वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५० अंक ३ मार्च २०१२

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,५००

मार्च - १४५-यूको बैंक, १४६-वैद्यनाथ, १४७-सुदर्शन सौर, १४८-मयूर

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

नये प्रकाशन | संग्रहणीय ग्रन्थ

आत्माराम की आत्मकथा

स्वामी जपानन्द

('विवेक-ज्योति' के अप्रैल २००३ से जून २००७ तक के कुल ५१ अंकों में प्रकाशित)

पृष्ठ संख्या – १३ + ३८२

मूल्य – रु. १००/– (डाक-व्यय अलग से)

भर्तहरि कृत 'वैराग्य-शतकम्'

(योगीराज भर्तृहरि के वैराग्य-बोधक सौ महान् श्लोक अन्वय तथा हिन्दी भावार्थ सहित)

पृष्ठ संख्या – ६+७२

मूल्य – रु. १८/– (डाक व्यय अलग)

* * *

भर्तहरि कृत 'नीति-शतकम्'

(योगीराज भर्तृहरि के नीति-विषयक सौ महान् श्लोक अन्वय तथा हिन्दी भावार्थ सहित)

पृष्ठ संख्या – ५+६८

मूल्य – रु. २०/– (डाक व्यय अलग)

नये प्रकाशन | संग्रहणीय ग्रन्थ

श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसंग

(भाग तीन)

(लेखक – स्वामी भूतेशानन्द जी)

पृष्ठ संख्या – ६+१९१

मूल्य – रु. ३५/– (डाक व्यय अलग)

* * *

श्रीरामकृष्ण वचनामृत प्रसंग

(भाग चार)

(लेखक – स्वामी भूतेशानन्द जी)

पृष्ठ संख्या – ७+२४३

मूल्य – रु. ४०/– (डाक व्यय अलग)

अपनी प्रति के लिये लिखें –

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली
नागपुर ४४० ०१२ (महाराष्ट्र)
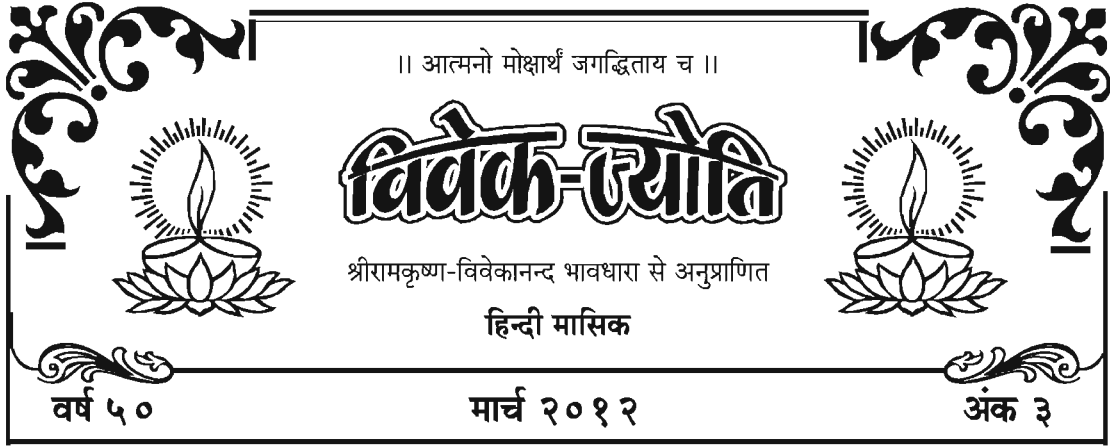
पुरखों की थाती

अरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ।।३७।।

– कर्म करते हुए बारम्बार थक जाने पर भी, उसे बारम्बार आरम्भ करना चाहिये, क्योंकि कर्म को जारी रखनेवाले व्यक्ति को लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। (मनुस्मृति, ९/३)

आत्मच्छिद्रं न पश्यति
परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः ।।३८।।

– मूर्ख मनुष्य केवल दूसरों के दोषों को ही देखता रहता है, अपने दोषों को नहीं देखता ! (चाणक्य-सूत्र)

आत्मा न स्तोतव्यम् ।।३९।।

– स्वयं अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। (चाणक्य-सूत्र)

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः
अदब्धासो अपरातीस उद्‌भिदः ।।४०।।

– हमें सभी ओर से ऐसे शुभ विचार प्राप्त हों, जो हमें निरन्तर उन्नत, उत्कृष्टतर जीवन की ओर ले जानेवाले हों और जिन्हें सामान्य लोग नहीं समझते। (यजुर्वेद २५/१४)

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।।४१।।

– अपने हृदय-गुहा में स्थित आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को जान लेनेवाला कहीं से भी भय को नहीं प्राप्त होता। (तै.उ.२/९)

आदित्य-चन्द्रावनिलोऽनलश्च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम् ।।४२।। (महाभारत)

– सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात तथा प्रातः, संध्या और धर्म – ये सभी मनुष्य के कर्मों अर्थात् उसके पाप-पुण्यों को देखते रहते हैं।

आदित्यस्य गतागतैरहरहःसंक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।।४३।।

– सूर्य के उदय व अस्त के साथ ही आयु का भी क्षय होता रहता है। जीवन के विविध प्रकार के कर्तव्यों की व्यस्तता के बीच समय के बीतने का बोध ही नहीं रहता। आँखों के सामने जन्म, बुढ़ापा, संकट तथा मृत्यु के कष्टों को देख कर भी मन में भय का संचार नहीं होता। सचमुच ही यह संसार विस्मृति रूपी मोह-मदिरा को पीकर मतवाला हो रहा है।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ।। चरैवेति ।।४४।।

– बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठा रहता है, खड़े हुए व्यक्ति का भाग्य भी खड़ा हो जाता है, सोये हुए व्यक्ति का भाग्य सोया रहता है और चलते हुए व्यक्ति का भाग्य भी चलता रहता है; अतः निरन्तर चलते रहो ! (ऐतरेय ब्राह्मण)

आचाराल्लभते आयुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्-धनमक्षय्यम् आचारो हन्त्यलक्षणम् ।।४५।।

– सदाचार से मनुष्य की आयु बढ़ती है, सदाचार से इच्छित सन्तान मिलता है, सदाचार से अक्षय धन का लाभ होता है और सदाचार व्यक्ति की अपात्रता को नष्ट करता है। (मनु.)

आशैव राक्षसी पुंसामाशैव विष-मंजरी ।
आशैव जीर्ण-मदिरा धिगाशा सर्वदोषभू ।।४६।।

– मनुष्यों के लिये आशा ही राक्षसी है, आशा ही विष की लता है और आशा ही तीव्र मदिरा है; हे सम्पूर्ण दोषों की प्रतिमूर्ति आशा, तुम्हें धिक्कार है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

अपनी भारतमाता

(द्विजेन्द्र लाल राय के सुप्रसिद्ध बंगला गीत
'धन-धान्य पुष्पे भरा' का भावानुवाद)

धन-वैभव से, फल पुष्पों से, भरा हुआ जग सारा,
उसमें है यह देश अनोखा, सब देशों से न्यारा;
सपनों से यह जड़ा हुआ, स्मृतियों ने इसे सँवारा ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह औ तारे, ऐसे कहाँ चमकते सारे,
कहाँ दमकते विद्युत् से, आलोकित बादल कारे;
सुनते चिड़ियों का मधु कलरव, उगते दिवस हमारे ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

भला कहाँ ऐसी हैं नदियाँ, पर्वत इतने ऊँचे?
कहाँ खेत की यह हरीतिमा, अम्बर को भी खींचे?
पौधों पर करती अठखेली, कहाँ वायु की लहरें ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

लदी हुई पुष्पों से शाखें, कूँजें पक्षी खोले पाखें,
दौड़-दौड़ आते झुण्डों में, गुंजन करते मधुकर,
फूलों पर ही सो जाते हैं, फूलों का रस पीकर ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

माँ-भाई का प्रेम अनोखा, कहाँ मिलेगा इतना,
दोनों चरण तुम्हारे माँ, मुझको निज हृदि में रखना;
इसकी मिट्टी में 'विदेह', जन्मे हैं औ फिर मरना ।।

ऐसा देश नहीं धरती पर, दिखने में है आता,
सब देशों की रानी है यह, अपनी भारत-माता ।।

वराहनगर मठ और भारत-भ्रमण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

एक बार जब मैं हैदराबाद में था, तो मैंने एक ब्राह्मण के बारे में सुना। वह न जाने कहाँ से अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर देता था। वह उस शहर का व्यापारी और ऊँचे घराने का था। मैंने उससे अपने चमत्कार दिखाने को कहा। उस समय वह बीमार था। भारतवासियों में यह विश्वास है कि यदि कोई साधु-सन्त किसी के सिर पर हाथ रख दे, तो उसका बुखार उतर जाता है। वह ब्राह्मण मेरे पास आकर बोला, "महाराज, आप अपना हाथ मेरे सिर पर रख दें, ताकि मेरा बुखार उतर जाय।" मैंने कहा, "ठीक है, परन्तु तुम हमें अपना चमत्कार दिखाओ।" वह राजी हो गया। उसकी इच्छानुसार मैंने अपना हाथ उसके सिर पर रखा और बाद में वह अपना वचन पूरा करने को अग्रसर हुआ। वह अपनी कमर में एक छोटा-सा वस्त्र मात्र पहने था। उसके अन्य सब कपड़े हमने अपने पास रख लिये थे। अब मैंने उसे ओढ़ने के लिए एक कम्बल दिया, क्योंकि ठण्ड के दिन थे; और उसे एक कोने में बिठा दिया। पचास आँखें उसकी ओर ताक रही थीं। उसने कहा, "अब आप लोगों को जो कुछ चाहिए, वह कागज पर लिखिए।" हम सब लोगों ने उन फलों के नाम लिखे, जो उस प्रान्त में पैदा तक न होते थे – अंगूर के गुच्छे, सन्तरे आदि, आदि। और हमने वे कागज उसके हाथ में दे दिये। कैसा आश्चर्य! उसके कम्बल में से अंगूर के गुच्छे, सन्तरे आदि इतनी संख्या में निकले कि यदि वजन किया जाता, तो वे सब उस आदमी के वजन से दुगने होते! उसने हमसे उन फलों को खाने के लिए कहा। हममें से कुछ लोगों ने यह सोचकर कि शायद यह सम्मोहन हो, खाने में आपत्ति की। लेकिन जब उस ब्राह्मण ने ही स्वयं खाना शुरू किया, तो हमने भी खाया। वे सारे फल खाने योग्य थे।

अन्त में उसने गुलाब के फूल निकाले। प्रत्येक फूल पूरा खिला था। पंखुड़ियों पर ओस-बिन्दु थे। कोई भी फूल न तो टूटा था, न दबकर खराब हुआ था; और उसने ऐसे एक-दो नहीं, बल्कि ढेरों फूल निकाले। जब मैंने पूछा कि यह कैसे किया, तो उसने कहा, "यह सिर्फ हाथ की सफाई है!"

वह चाहे जो कुछ था, परन्तु केवल हाथ की सफाई होना तो असम्भव था। इतनी अधिक संख्या में वह ये चीजें कहाँ से पा सकता था? मैंने इसी तरह की अनेक बातें देखी हैं।... यह सारी अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य के मन में स्थित है।[५४]

इस शास्त्र का मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है, पर जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता हूँ, उसके लिए मैंने तीस साल तक अभ्यास किया है और मैं पिछले छह साल से लोगों को सिखा रहा हूँ। मुझे इसके अभ्यास में तीस साल लगे! तीस साल का कड़ा प्रयास! कभी-कभी चौबीस घण्टों में मैं बीस घण्टे साधना करता रहा हूँ। कभी रात में एक घण्टा ही सोया हूँ। कभी रात-रात भर मैंने साधना की है; कभी-कभी मैं ऐसे स्थानों में रहा हूँ, जहाँ किसी तरह का कोई शब्द न था, साँस तक की आवाज़ न थी। कभी मुझे गुफाओं में रहना पड़ा। इस पर विचार करो। फिर भी मुझे बहुत थोड़ा मालूम है, या कहो, बिल्कुल ही नहीं! मैं कठिनता से इस शास्त्र का मानो किनारा भर छू पाया हूँ। परन्तु मैं समझ गया हूँ कि यह सच है, अपार है और आश्चर्यजनक है।[५५]

पहले किसी एक विषय का आश्रय लेकर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय मैं एक छोटे से काले बिन्दु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के बाद, वह बिन्दु मुझे दीखना बन्द हो गया था। वह मेरे सामने है या नहीं, यह भी ध्यान नहीं रहता था। निस्तरंग समुद्र के समान मन का पूर्ण निरोध हो जाता था। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाई कुछ-कुछ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसी के ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र

एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देवी-देवताओं की मूर्तियों के पूजन की व्यवस्था है।[५६]

मैं ऐसे कुछ लोगों से मिला हूँ, जिन्होंने मुझे बताया कि उन्हें अपने पिछले जन्म की बातें याद हैं। उन्हें एक ऐसी अवस्था प्राप्त हो चुकी थी, जिसमें उनके पिछले जन्मों की स्मृति का उदय हुआ था।[५७]

(प्रश्न – क्या आप अपने पूर्वजन्म की बातें जान सकते हैं?) हाँ,... जान सकता हूँ और जानता भी हूँ, परन्तु इस विषय में ज्यादा कुछ नहीं कहूँगा।[५८]

अपने भ्रमण के दौरान मैं एक जगह बैठा था। वहाँ दल-के-दल लोग मुझसे उपदेश लेने के लिए आ रहे थे। यद्यपि यह प्राय: असम्भव प्रतीत होता है, परन्तु तीन दिन और तीन रात तक मुझे एक क्षण का भी विश्राम दिये बिना लोग मुझसे सत्संग करने के लिये आते-जाते रहे। उन्होंने मुझसे पूछा तक नहीं कि मेरा भोजन हुआ है अथवा नहीं। तीसरी रात, सभी लोगों के चले जाने पर एक दीन-हीन व्यक्ति ने आकर पूछा, "महाराज, आप तीन दिनों से लगातार बातें कर रहे हैं, परन्तु आपने जलपान तक नहीं किया, इससे मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है।" मैंने सोचा – नारायण स्वयं ही दीन के वेश में मेरे समक्ष उपस्थित हुए हैं। मैंने उससे पूछा, "तुम मुझे कुछ खाने को दोगे?" वह व्यक्ति अत्यन्त कातर-भाव से बोला, "मेरा हृदय तो चाहता है, पर अपने हाथ की बनायी हुई रोटी मैं आपको कैसे दूँ? यदि कहें तो मैं आटा-दाल ला दूँ और आप दाल-रोटी बना लीजिए।"

उन दिनों मैं संन्यास के नियमानुसार अग्नि का स्पर्श नहीं करता था। मैं उससे बोला, "अपनी बनाई हुई रोटी मुझे दे दो, मैं वही खाऊँगा।" यह सुनकर वह भय से अभिभूत हो गया। वह खेतड़ी-नरेश राजा की प्रजा था। राजा को यदि पता चले कि चमार होकर भी उसने अपनी बनाई हुई रोटी संन्यासी को दी है, तो राजा उसे बड़ा कठोर दण्ड देंगे और उसे देश से निकाल भी देंगे। मैंने कहा, "डरने की कोई बात नहीं, राजा तुम्हें दण्डित नहीं करेंगे।" इस पर उसे पूरा विश्वास तो नहीं हुआ, पर दया की प्रबलता के कारण, भावी अनिष्ट की उपेक्षा करके भी वह खाने की चीजें ले आया। उस समय यदि देवराज इन्द्र स्वर्णपात्र में अमृत लाकर देते, तो भी वह उतना तृप्तिकर होता या नहीं – इसमें सन्देह है। प्रेम तथा कृतज्ञता के कारण मेरे नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और मैं सोचने लगा, "उच्च भावों से सम्पन्न ऐसे हजारों लोग झोपड़ियों में निवास करते हैं और हम उन्हें नीच जाति और अछूत कहकर उनसे घृणा करते हैं!"

महाराजा से परिचय होने के बाद जब मैंने उन्हें उस व्यक्ति के उत्तम आचरण के विषय में बताया। कुछ दिनों के भीतर ही राजा ने उस व्यक्ति को बुलवाया। वह भय से काँपते हुए राजा के समक्ष उपस्थित हुआ – उसके मन में आशंका थी कि आज न जाने उसे कौन-सा भयंकर दण्ड दिया जायगा। परन्तु राजा ने उसकी प्रशंसा की और उनकी कृपा से उस दिन से उस व्यक्ति की निर्धनता दूर हो गई।[५९]

मेरे लिए चिन्तित होने की बिलकुल भी जरूरत नहीं। कभी मैंने किसी किसान द्वारा दी गयी रोटियाँ खाते हुए वटवृक्ष के नीचे सोकर भी दिन बिताएँ हैं और फिर कभी मैंने महाराजाओं के महल में भी आतिथ्य ग्रहण किया है, जहाँ दासियाँ मयूर-पुच्छ के पंखों से मुझे रात भर हवा करती रहती थीं। मैं प्रलोभनों का अभ्यस्त हूँ, अत: मेरे लिए परेशान होने की आवश्यकता नहीं![६०]

ओह, कितने कष्टों से दिन बीते हैं! एक बार लगातार तीन दिनों तक भोजन नहीं मिलने से रास्ते पर मूर्छित होकर पड़ा था; जब होश हुआ तो देखा कि सारा शरीर वर्षा के जल से भीग गया है। पानी में भीगने से शरीर थोड़ा स्वस्थ लग रहा था। तब उठकर धीरे-धीरे पैदल चलकर एक आश्रम में पहुँचकर कुछ खाया, तब प्राण बचे।[६१]

मैं हिमालय में द्वार-द्वार पर जाकर भिक्षा माँगा करता था। अपना अधिकांश समय मैं कठोर साधनाओं में बिताता। भिक्षा में प्राप्त होनेवाला भोजन अत्यन्त साधारण होता और बहुधा वह भी भूख को शान्त करने के लिये अपर्याप्त होता। एक दिन मैंने सोचा कि मेरा जीवन तो निरर्थक है और ये पहाड़ के लोग स्वयं ही इतने निर्धन हैं कि अपने बच्चों तथा परिवार का ही समुचित रूप से पोषण नहीं कर पाते। इसके बावजूद ये लोग मेरे लिये थोड़ा-सा भोजन बचाकर रखते हैं। ऐसे जीवन की क्या उपयोगिता? मैंने भिक्षा के लिये जाना बन्द कर दिया। दो दिन ऐसे ही बिना कुछ खाये बीत गये। जब कभी प्यास लगती, तो झरने पर जाकर अंजली भर-भरकर पानी पी लेता। इसके बाद मैंने घने जंगल में प्रवेश किया। वहाँ मैं एक चट्टान पर बैठकर ध्यान करने लगा। आँखें खुली थीं। सहसा मुझे एक विशाल बाघ की उपस्थिति का बोध हुआ। उसने अपनी चमकती आँखों से मेरी ओर देखा। मैंने सोचा, "चलो, आखिरकार मुझे शान्ति मिल जायेगी और इसे भी भोजन मिल जायेगा। मेरा शरीर इस प्राणी की कुछ सेवा में लग सका – यही मेरे लिये सन्तोष की बात है।" मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं और उसके आने की प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु थोड़ी देर बीत जाने के बाद भी मुझ पर आक्रमण नहीं हुआ। अत: मैंने अपनी आँखें खोलीं और देखा – वह और भी घने जंगल की ओर जा रहा है। मुझे इस पर खेद हुआ और उसके बाद हँसी भी आयी, क्योंकि मैं समझ गया था कि जब तक ठाकुर का काम पूरा नहीं हो जाता, तब तक वे ही मेरी रक्षा कर रहे हैं।[६२]

ककड़ीघाट (अल्मोड़ा के पास) अगस्त १८९० (गहन ध्यान के बाद सामान्य स्थिति में आने पर)। अभी-अभी मैं अपने जीवन के एक महान् क्षण से होकर गुजरा हूँ। इस पीपल के वृक्ष के नीचे मेरे जीवन की एक महान् समस्या का समाधान हो गया ! मैंने विराट्-ब्रह्माण्ड और अणु-ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति कर ली है। विराट्-ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, वह सब इस देह-रूपी अणु-ब्रह्माण्ड में स्थित है।[६३]

अमेरिका-यात्रा की तैयारी

हैदराबाद, २१ मई, १८९३। अत: मेरी सारी योजना मिट्टी में मिल गयी और इसलिए मैं पहले ही मद्रास से शीघ्रातिशीघ्र चल देने के लिए व्यग्र था। तब मुझे अमेरिका भेजने के निमित्त उत्तर भारत के किसी राजा का सहयोग प्राप्त करने के लिए महीनों का समय मिल जाता। किन्तु क्या करूँ, अब तो अत्यधिक विलम्ब हो चुका है। पहले तो ऐसी गर्मी में कहीं दौड़-धूप न कर सकूँगा – ऐसा करने से मुझे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ेगा और दूसरे राजपुताने के मेरे घनिष्ठ मित्र मुझे पाकर अपने समीप से हिलने न देंगे तथा मुझे वे पाश्चात्य देशों में न जाने देंगे। अत: अपने मित्रवर्ग से न मिलकर किसी नवीन व्यक्ति का आश्रय लेने का मेरा विचार था, किन्तु मद्रास में विलम्ब हो जाने के कारण मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। अत्यन्त दु:ख के साथ अब उस प्रयास को त्याग देना पड़ा। ईश्वर की जो इच्छा है, वही पूर्ण हो !... अस्तु, 'जब तक जीना, तब तक सीखना' – अनुभव ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है।

"जिस प्रकार स्वर्ग में, उसी प्रकार इस नश्वर जगत् में भी तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, क्योंकि अनन्त काल के लिए जगत् में तुम्हारी ही महिमा घोषित हो रही है एवं सब कुछ तुम्हारा ही राज्य है।"[६४]

खेतड़ी, मई, १८९३। शिकागो जाने की मेरी इच्छा पहले से ही थी। जब मैं मद्रास में था, वहाँ की जनता ने स्वयं ही मैसूर एवं रामनाद के राजाओं के सहयोग से मुझे भेजने का सारा प्रबन्ध कर दिया।... खेतड़ी के महाराज और मैं स्नेह के परम अन्तरंग सूत्र से आबद्ध हैं। मैंने उनको सामान्य तौर पर लिखा कि मैं अमेरिका जा रहा हूँ। स्नेहवश खेतड़ी महाराज ने सोचा कि प्रस्थान करने के पूर्व उनसे भेंट करना मेरा कर्तव्य है और विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब कि भगवान ने उनके सिंहासन के लिए एक उत्तराधिकारी प्रदान किया था और यहाँ जोरों से खुशियाँ मनायी जा रही थीं; और मैं निश्चय ही आऊँ, इस निमित्त उन्होंने मद्रास तक अपने निजी सचिव को मुझे लिवा लाने को भेजा था।[६५]

बम्बई, २२ मई, १८९३। कुछ दिन हुए, बम्बई पहुँच गया और थोड़े दिनों में ही यहाँ से रवाना हो जाऊँगा।...

खेतड़ी-नरेश के निजी सचिव और मैं – दोनों एक साथ रहते हैं। उनके प्रेम और कृपा के लिए आभार प्रदर्शित करने में मैं असमर्थ हूँ। वे एक ताजीमी सरदार हैं, जिनका राजा लोग सिंहासन से उठकर स्वागत करते हैं, तो भी वे इतने सरल हैं कि उनका सेवा-भाव देखकर मैं कभी-कभी लज्जित हो जाता हूँ।...

प्राय: देखने में आता है कि अच्छे से अच्छे लोगों पर कष्ट और कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं। इसका समाधान न भी हो सके, फिर भी मुझे जीवन में ऐसा अनुभव हुआ है कि जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो मूल रूप में भली न हो। ऊपरी लहरें चाहे जैसी हों, परन्तु वस्तु मात्र के अन्तराल में प्रेम और कल्याण का अनन्त भण्डार है। जब तक हम उस अन्तराल तक नहीं पहुँचते, तभी तक हमें कष्ट मिलता है। एक बार उस शान्ति-मण्डल में प्रवेश करने पर फिर चाहे आँधी और तूफान के जितने तुमुल झकोरे आयें, वह मकान, जो सदियों की पुरानी चट्टान पर बना है, हिल नहीं सकता।[६६]

बम्बई, २४ मई, १८९३। ३१ तारीख को मेरी अमेरिका-यात्रा निश्चित हो चुकी है।[६७]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

५४. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ४, पृ. १६८; **५५.** वही, खण्ड ४, पृ. १७९; **५६.** वही, खण्ड ६, पृ. ४३; **५७.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड १, पृ. ३२७; **५८.** वही, खण्ड ८, पृ. २५८; **५९.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 1, P. 351-52; **६०.** Reminiscences of Swam Vivekananda, Ed. 2004, पृ. १३५; **६१.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 1, P. 354; **६२.** The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 1, P.250; **६३.** Reminiscences of Swam Vivekananda, Ed. 2004, पृ. ३५५; **६४.** वही, खण्ड १, पृ. ३८६; **६५.** वही, खण्ड १, पृ. ३९६; **६६.** वही, खण्ड १, पृ. ३८९; **६७.** वही, खण्ड १, पृ. ३९१

मनुष्यों की तीन श्रेणियाँ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

एक प्रश्न मुझसे बारम्बार पूछा जाता है कि क्या नरक-स्वर्ग की धारणा पूरी तरह काल्पनिक नहीं है? और यदि है तो क्या नरक और पाप का डर दिखाकर मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना उचित है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि विचारों की भिन्नता के कारण, बुद्धि की धारणा-शक्ति की अधिकता या न्यूनता के कारण मनुष्यों की अलग-अलग श्रेणियाँ होती हैं। कुछ लोग मानसिक विकास की दृष्टि से बालक के समान होते हैं, तो कुछ लोग प्रौढ़। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उसके अनुरूप व्यवस्था करनी होती है।

मोटे तौर पर हम मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो वे हैं, जो इस संसार को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। यह दृश्यमान जगत् ही उनके लिए सब कुछ है। ये लोग भौतिकवादी और इन्द्रियपरायण होते हैं। खाना, पीना और मौज उड़ाना ही उनका लक्ष्य होता है। Enjoyment, Excitment and Exhaustion यानी भोग, उत्तेजना और अवसाद के चक्र में पड़कर ये लोग उचित और अनुचित का विवेक खो बैठते हैं और उच्छृंखल तथा पशुवत् हो जाते हैं। ऐसे लोगों में पाप-पुण्य का कोई बोध नहीं होता। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ये कुछ भी कर सकते हैं। ऐसे विवेकहीन मानव-पशुओं से समाज की रक्षा करने के लिए डण्डे का उपयोग लाभप्रद सिद्ध होता है।

इससे कुछ ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य केवल देह के स्तर पर नहीं जीता, बल्कि एक वैचारिक आदर्श में आस्था रखता है। उसे यह विश्व आकस्मिकता या दुर्घटना से उत्पन्न एक लक्ष्यहीन भटकाव नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह इस संसार में एक अदृश्य नियामक शक्ति को अनुस्यूत देखता है, जिसे वह ईश्वर के नाम से पुकारता है। यह व्यक्ति विश्वास करता है कि अशुभ क्रियाओं का फल अशुभ होता है और शुभ क्रियाओं का फल शुभ। इसलिए वह स्वर्ग और नरक पर विश्वास करता है और मानता है कि पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा पाप के फल से नरक की। स्वर्ग वह है, जहाँ सुख की सूक्ष्म कल्पना होती हो और नरक वह है, जहाँ दु:ख की बीभत्स-से-बीभत्स कल्पना मूर्त रूप धारण करती हो। मनुष्यों की यह दूसरी श्रेणी पाप और नरक के डर से कुमार्ग पर कदम डालने में हिचकती है। इन लोगों के लिए ईश्वर एक न्यायी राजा के समान है, जो सत्कर्मों के लिए पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिए दण्ड प्रदान करता है। मानव-समाज के बृहत्तर अंश के लिए पाप-पुण्य की यह कल्पना लाभदायक सिद्ध होती है।

इससे भी ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य पाप-पुण्य की भावना से प्रेरित होकर क्रियाएँ नहीं करता, जो ईश्वर को एक न्यायी राजा के समान नहीं देखता, बल्कि उसे सर्वान्तर्यामी सत्य के रूप में स्वीकार करता है और ऐसा मानता है कि यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड अटल और अपरिवर्तनशील नियमों द्वारा धारित है। ये नियम ही 'ऋत' और 'सत्य' के नाम से पुकारे गये हैं। इस तीसरी श्रेणी में अत्यन्त विरले लोग होते हैं। इनके जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर सत्य का शोधन होता है। ऐसे ही व्यक्ति सत्यद्रष्टा बनकर 'ऋषि' के नाम से पूजित होते हैं। सारी मानव जाति को 'ऋषि' की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा देना ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। पर इस गन्तव्य पर पहुँचने के लिए हमें प्रथम दो श्रेणियों में से गुजरना होता है। एक छोटा बच्चा जब चलना शुरू करता है, तो तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेता है। जब वह चलना सीख जाता है, तो उसे फिर किसी सहारे की जरूरत नहीं होती। पर इसका मतलब यह नहीं कि तीन पैर की गाड़ी निरर्थक हो गयी। उसकी भी उपयोगिता है। दिशाएँ कल्पित हैं। अक्षांश और रेखांश कोई ऐसी रेखाएँ नहीं जो दुनिया में कहीं खिंची हों, वे पूरी तरह से काल्पनिक हैं। पर इन काल्पनिक दिशाओं से हमें ठोस लाभ मिलता है। हम उनके सहारे हवा में उड़कर या पानी में तैर कर अपने गन्तव्य को पहुँच जाते हैं। हम ऊँट पर रेगिस्तान को पार कर सही स्थान को पा लेते हैं। यह कल्पना की व्यावहारिक उपयोगिता है। ठीक इसी प्रकार भले ही स्वर्ग और नरक की धारणा काल्पनिक हो, पर उससे व्यावहारिक जीवन में ठोस लाभ मिलता है। एक श्रेणी के मनुष्यों को मर्यादा में बाँधकर रखने के लिए जैसे पुलिस के डण्डे की जरूरत है, वैसे ही दूसरी श्रेणी के लोगों को नैतिक मर्यादा में बनाये रखने के लिए पाप या नरक के डर का प्रयोजन है। यह पाप का डर पुलिस के भय की अपेक्षा अधिक कारगर सिद्ध होता है। इस पाप के भय का शिथिल हो जाना ही हमारी समस्याओं के उलझाव का प्रमुख कारण है।

साधना, शरणागति और कृपा (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार ।
संबत सप्त सहस्त्र पुनि रहे समीर अधार ।। १/१४४

– इस प्रकार जल का आहार (करके तप) करते छह हजार वर्ष बीत गये। फिर सात हजार वर्ष वे वायु के आधार पर रहे।

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ ।।
बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।

– दस हजार वर्ष तक उन्होंने वायु का आधार भी छोड़ दिया। दोनों एक पैर पर खड़े रहे। उनकी अपार तपस्या देखकर ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी कई बार मनुजी के पास आये ।।

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज और अन्य समुपस्थित सन्तों के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ। भगवत्कथा-श्रवण के लिए यहाँ एकत्र हुए आप सभी का स्वागत, अभिनन्दन !

मानस की इन पंक्तियों में महाराज मनु और उनकी साधना या तपस्या का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया गया। उसमें वर्षों के जो आँकड़े दिये गये, वे किसी भी मनुष्य को आतंकित कर देंगे – इतने हजार वर्ष उन्होंने फलाहार किया, इतने हजार वर्ष उन्होंने केवल जल ही ग्रहण किया, इतने हजार वर्ष वे मात्र वायु के आधार पर जीवित रहे। शरीर में केवल हड्डियाँ-ही-हड्डियाँ ही रह गयीं।

क्या इसका तात्पर्य साधकों को यह सन्देश देना है कि भगवान को पाने के लिये आपको भी ऐसे ही व्रत, उपवास, तपस्या और साधना करनी होगी। ऐसा अर्थ लेने पर शायद हम सही उद्देश्य नहीं समझ सकेंगे। भक्त ध्रुव के प्रसंग में, भगवान छह महीने में ही उनके सामने प्रगट हो गये थे और मनु के प्रसंग में गणना से लगता है कि शायद अट्ठाईस-तीस या बावन हजार वर्षों की बात कही गई है। ईश्वर किस गणित के आधार पर मनुष्य को दर्शन देता है?

यहीं पर कृपा का सूत्र सामने आता है। वस्तुत: इसका महानतम सूत्र यह है कि भगवान की जब भी प्राप्ति होती है, तो केवल उनकी कृपा से ही होती है। इसे समझने के लिये आप एक व्यावहारिक दृष्टान्त पर विचार करें। मान लीजिये आप एकादशी का व्रत रखें। पूरे दिन-रात आप फलाहार करें या पूरे निराहार रहें। दूसरी ओर यदि एक बच्चा कहे कि मैं भी उपवास करूँगा और एक मिनट बाद कहे – मेरा उपवास पूरा हो गया; तो आपको हँसी आ जायेगी। कहेंगे – तुम्हारा तो बड़ा अच्छा उपवास है – एक ही मिनट में पूरा हो गया !

अपने चौबीस घण्टे की तुलना में आपको उसके एक मिनट उपवास बड़ा तुच्छ लगता है। इसी आधार पर यदि आप गणित करें, तो मनु ने बड़ी लम्बी तपस्या की, जिसके आँकड़े ही हमारे लिए आतंक का कारण बन सकते हैं, परन्तु हमारे पुराणों ने समय का जो मापदण्ड प्रस्तुत किया है, उस दृष्टि से विचार करके देखें, तो वह ब्रह्मा के चौबीस घण्टे में एक मिनट जितना भी नहीं है। हमारे छह महीने के दिन और छह महीने की रात को मिलाकर देवताओं का एक दिन होता है। फिर जब एक हजार बार चारों युग बीत जाते हैं, तब ब्रह्मा का केवल एक दिन होता है। आप इसका गणित करेंगे, तो लगेगा कि आपके चौबीस घण्टे में एक मिनट का जो गणित है, वहाँ तो उतना भी नहीं है। स्पष्ट है कि आप बच्चे के एक मिनट के उपवास पर हँसी तो उड़ायेंगे, पर यदि ब्रह्मा अपनी घड़ी से देखें और कोई पचास हजार वर्ष तक तप करे, तो उन्हें लगेगा कि अरे भई, अभी तो एक क्षण ही हुआ है। इसने किया ही क्या है ! परन्तु काल के उस मापदण्ड को और भी विस्तार दिया गया है कि इस प्रकार जब ब्रह्मा के सौ वर्ष बीत जाते हैं, तब शंकरजी का एक पल होता है। यह तो आतंक की पराकाष्ठा हो गई। ब्रह्मा के ही काल में मनु के इन बावन हजार वर्षों का कोई अर्थ नहीं है। शंकरजी के काल में तो यह कुछ भी नहीं हुआ। उसमें ऐसा कोई सूक्ष्म कालखण्ड नहीं है कि हम कह सकें कि मनु ने इतनी कठिन साधना की।

कठिन साधना हम अपनी दृष्टि से करते हैं, पर जिन्हें प्रसन्न करना है, उनकी दृष्टि में उसका कोई महत्त्व नहीं है। प्रारम्भ में साधक के हृदय में साधना या तपस्या के प्रति महत्त्व-बुद्धि होती है और होनी भी चाहिए, क्योंकि इसके बिना उसका वह उद्देश्य पूरा नहीं होगा, जिसके लिये संकेत-रूप में आपके समक्ष 'कृपा' शब्द का प्रयोग किया गया।

लिखा हुआ है कि मनु की इस साधना और तपस्या का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्माजी आये, भगवान विष्णु ने दर्शन दिया, शंकरजी ने भी आकर दर्शन दिया और मनु से कहा –

तुम्हें जो माँगना हो, माँग लो। पर मनु बोले – "आप लोगों को प्रणाम है, परन्तु मैं आप लोगों से कोई याचना नहीं करूँगा।" वे दृढ़ थे। ऐसी बात नहीं है कि उनकी साधना से ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर प्रभावित हो गये; फिर और भी अधिक दिन हो जाने पर भगवान राम के रूप में जिनका वर्णन किया गया है, वे भी प्रभावित हो गये। यहाँ गोस्वामीजी एक शब्द बताते हैं और वही साधना की अन्तिम परिणति है – कृपा-अमृत से सनी हुई परम गम्भीर आकाशवाणी हुई –

मागु मागु बरु भै नभ बानी।
परम गभीर कृपामृत सानी।। १/१४४/६

भगवान ने किसी साधन के द्वारा नहीं, अपितु कृपा करके ही मनु को दर्शन दिया। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि साधना का महत्त्व नहीं है, तो साधना करें ही क्यों? जब भगवान अपनी कृपा से ही सब करेंगे, तो क्या हम अकर्मण्य हो जायें ! नहीं, साधना तो हमें तब तक करनी होगी, जब तक कि हमें कृपा की अपेक्षा का बोध न हो जाय। यह आवश्यक है, बल्कि कृपा तो थकने की स्थिति है। जब आप चलते-चलते थक जाते हैं और आपको लगता है कि अब तो एक पग भी चलना सम्भव नहीं है, तब आप क्या करते हैं? तब आप बैठ जायेंगे, लेट जायेंगे, या आँखें मूँद लेंगे। यदि व्यक्ति थका हुआ नहीं है, तो उसे विश्राम की आवश्यकता का बोध हो ही नहीं सकता। **कर्ममार्ग में साधना का उद्देश्य पाना है और भक्तिमार्ग में साधना का उद्देश्य थकना है।** यह बड़ा भारी अन्तर है। कर्ममार्ग में नियम है कि यह साधन करेंगे, तो यह मिलेगा। पर भक्तिमार्ग का बस एक ही नियम है कि आप कितनी देर में थकते हैं? आपको यह अनुभव होता है कि मेरी साधना, जिसे मैं बहुत उत्कृष्ट मान बैठा था, उस अनन्त में तो उसका कोई अर्थ ही नहीं है, कोई गणना ही नहीं है। और तब व्यक्ति व्याकुल होकर कहता है, "प्रभो, हम अपने किसी भी साधन के द्वारा आपको प्रसन्न करने में समर्थ नहीं है, सक्षम नहीं है, अब तो आप ही अपनी कृपा से मुझे स्वीकार कर लें, दर्शन दे दें, मुझे शरण में ले लें, तो मैं धन्य हो सकता हूँ।" यह सूत्र आपको रामायण के प्रत्येक प्रसंग में मिलेगा और यही सूत्र महाभारत में भी है। गीता में भगवान अन्त में अर्जुन को शरणागति का ही उपदेश देते हुए कहते हैं – अपने समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।। १८/६६

अब कहा जा सकता है कि अर्जुन से यदि अन्त में यही कहना था, तो प्रारम्भ में ही कह देते – **मामेकं शरणं व्रज** – तुम सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ।

पर बड़ी अनोखी बात है। भगवान अर्जुन को पहले धर्म का उपदेश देते हैं, धर्म के परिणाम का वर्णन करते हैं, साधनाओं का वर्णन करते हैं, यज्ञों का वर्णन करते हैं और सब कुछ बताने के बाद अन्त में यह भी कह देते हैं – मैंने गुह्य-से-गुह्य, अर्जुन, मैंने जो श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधना तथा ज्ञान के रहस्य तुम्हारे सामने रख दिये, अब तुम उस पर विचार-विमर्ष करो और तुम्हें जो अच्छा लगे, वैसा ही करो –

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरू।। १८/६३

भगवान ने जब यह कहा, तब तक अर्जुन न जाने कितने प्रकार के योगों और यज्ञों का वर्णन सुनते-सुनते थक चुका था। अब अर्जुन के सामने एक नया संकट खड़ा हो गया। वह बोला – "महाराज, आपने कहा कि यह भी एक मार्ग है, यह भी एक मार्ग है, इस तरह की साधना, उस तरह की साधना। अब मैं कैसे निर्णय करूँ कि मेरे लिये क्या उपयुक्त है। यदि मैं निर्णय करने में सक्षम होता, तो पहले ही निर्णय ले चुका था कि मुझे युद्ध नहीं करना है। अब मेरे लिये निर्णय का भार भी आप ही के ऊपर है।"

जब अर्जुन की बुद्धि थक गई, तो उसमें श्रद्धावृत्ति का उदय हुआ। श्रद्धा और बुद्धि – ये दो बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। भगवान शंकर का वर्णन किया गया विश्वास के रूप में और भगवती उमा का वर्णन किया गया श्रद्धा के रूप में –

भवानी-शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ।।

कई बार लोग प्रश्न करते हैं – श्रद्धा और विश्वास में क्या अन्तर है? भगवान शंकर का एक चित्र या मूर्ति आपने कभी कहीं देखी होगी – अर्धनारीश्वर, जिसमें आधा शरीर शंकरजी का है और आधा पार्वतीजी का। इसका महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि श्रद्धा और विश्वास प्रारम्भ में अलग-अलग हैं, पर एक ऐसी स्थिति आती है, जब श्रद्धा और विश्वास मिलकर सर्वथा एकाकार हो जाते हैं। उनमें रंचमात्र भिन्नता नहीं रह जाती। इन दोनों में जो भेद है, उसे समझा जा सकता है। भगवान शंकर मूर्तिमान विश्वास हैं और भगवती पार्वती श्रद्धा हैं, पर उसमें मूल अन्तर यह है कि भगवान शंकर के चरित्र में वह साधना का क्रम आपको नहीं मिलेगा, जो पार्वतीजी के जीवन में दीख पड़ता है। पार्वतीजी के दो जन्म होते हैं और वे कई कठिन समस्याओं द्वारा आक्रान्त होती हैं। उनके जीवन में, न जाने कितनी तरह की सत्-असत् वृत्तियाँ आती हैं। उन्हें एक शरीर का त्याग करना पड़ता है और जब वे दूसरा शरीर ग्रहण करती हैं, तो देवर्षि नारद उनकी हस्तरेखा देखते हैं। देवर्षि नारद तो सर्वज्ञ हैं। उन्हें भलीभाँति ज्ञात है कि पार्वतीजी भगवान शंकर की अभिन्न शक्ति हैं। वे हस्तरेखा देखकर हिमांचल से कह सकते थे कि तुम्हारी कन्या तो भगवती शक्ति और भगवान शंकर की प्रिया हैं। इनका उन्हीं से विवाह होगा। परन्तु बड़ी अनोखी पद्धति है। साधना की पद्धति में महात्मा लोग जिन मार्गों का आश्रय लेते हैं, उसी

का संकेत यहाँ मिलता है। वस्तुत: नारदजी ने जो कहा, वह साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

विचार करके देखें, तो विश्वास का उदय होता है हृदय में और श्रद्धा का बुद्धि में। दोनों में भिन्नता है। यों तो हृदय और मस्तिष्क अलग-अलग हैं, पर एक स्थिति ऐसी भी है, जहाँ हृदय का विश्वास और बुद्धि की श्रद्धा – दोनों एकाकार हो जाते हैं। पर श्रद्धा का यह मार्ग बड़ा लम्बा है। विश्वास का मार्ग छोटा है। श्रद्धा के मार्ग की कठिनाई यह है कि उसका उदय बुद्धि में होता है और बुद्धि सरलता से पराजय स्वीकार नहीं करती। बल्कि प्रत्येक मनुष्य को सबसे अधिक आग्रह अपनी बुद्धि का ही होता है। कोई आपसे कहे कि वह व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से आपकी अपेक्षा अधिक बलवान है, तो आप कहेंगे – हाँ, मैं उसके सामने क्या खड़ा होऊँगा! किसी के लिए कह दिया जाये कि वह तुमसे अधिक धनवान है, तो भी आपको बुरा नहीं लगेगा। पर यदि कोई कहे कि वह तुमसे अधिक बुद्धिमान है, तो व्यक्ति स्वीकार नहीं करना चाहता। बुद्धि एक ऐसी ही वस्तु है। बुद्धि में अद्वैत-तत्त्व बहुत आता है, क्योंकि बुद्धि द्वैत को सह नहीं पाती। प्रारम्भ में द्वैत को न सहने में उसका अभिमान होता है और उस अद्वैत की पराकाष्ठा में उसको अद्वैत-तत्त्व का बोध होता है। बुद्धि के साथ यही समस्या जुड़ी हुई है।

पार्वतीजी पूर्वजन्म में सती थीं। उस समय उनका चरित्र बुद्धि और तर्क-प्रधान है, क्योंकि वे दक्ष-पुत्री हैं। दक्ष चतुर हैं, विद्वान् हैं, यज्ञकर्त्ता हैं, प्रजापति हैं और सद्‌गुणों से सम्पन्न हैं। आप भागवत में दक्ष के गुणों का वर्णन पढ़कर चकित रह जायेंगे। विश्व में कोई दक्ष जैसा गुणवान नहीं था। इसीलिए ब्रह्माजी ने प्रजापति के रूप में दक्ष का ही चुनाव किया। परन्तु यहाँ पर बड़े महत्त्व का सूत्र यही है कि **जहाँ सद्‌गुण है, चतुराई है, वहाँ व्यक्ति को उसका अभिमान न हो, यह सर्वथा असम्भव है।**

भगवान शंकर कथा सुनते हैं, पर सतीजी उनके साथ होते हुए भी नहीं सुनतीं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य है – देखने में आता है कि विश्वासी तो सुनना चाहता है, पर बुद्धिमान दूसरों को अपनी ही विद्वत्ता सुनाना चाहता है। वह दूसरे की बात क्या सुनेगा? उसको लगता ही नहीं कि उससे बढ़िया बातें कोई कह सकता है। जो बुद्धिमान होगा, वह तो सुनना ही नहीं चाहेगा और यदि सुनेगा भी, तो पूरे तर्क से उसका खण्डन ही सोचेगा।

कागभुशुण्डिजी बताते हैं कि उनकी भी यही दशा थी, तो उनके गुरु लोमशजी को क्रोध आ गया। गरुड़जी ने पूछा, "लोमशजी तो बड़े भारी महात्मा हैं, उनको क्रोध कैसे आ गया? वे कैसे ज्ञानी थे? जब वे इतने क्रोधी थे, तो बाद में आपने उन्हीं को गुरु क्यों बना लिया?" कागभुशुण्डिजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने यह दोष नहीं माना कि वे बड़े क्रोधी थे। बोले – इसमें उनका कोई दोष नहीं, दोष तो मेरा ही था। जब लोमशजी उपदेश दे रहे थे, उसे सुनते समय मेरी वृत्ति क्या थी? उधर वे अद्वैत वेदान्त का उपदेश दे रहे थे और इधर मैं विचार कर रहा था – यह ठीक नहीं है, यह ठीक नहीं है, इसके विरुद्ध यह युक्ति है, इसके विरुद्ध यह। इस प्रकार मैंने उनके उपदेशों को आदरपूर्वक नहीं सुना –

एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ।
मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ।। ७/११२/११

बुद्धि का स्वभाव है तर्क और तर्क का अर्थ है कर्त माने कैंची या काटना। बुद्धि सरलता से किसी बात को न सुनना चाहती है और न मानना। सतीजी के जीवन में बुद्धि की यही समस्या है। बुद्धि और विश्वास का पार्थक्य तब सामने आया कि जब शंकरजी के सामने भगवान राम सीताजी के वियोग में विलाप करते हुए प्रगट हुए। शंकरजी ने उन्हें 'जय सच्चिदानन्द ब्रह्म' – कहकर प्रणाम किया और आनन्द में डूब गये कि "वाह प्रभो, आपकी क्या अद्‌भुत लीला है!"

एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य – जो बुद्धिमानों का दूसरा दोष है, सामने आया। सतीजी दोनों पर मन-ही-मन तर्क करने लगीं, "अच्छा, तो ये 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' हैं! जो पत्नी के वियोग में रो रहे हैं और पत्नी को इसलिये गँवा बैठे कि सोने के मृग के पीछे भागे। ये कैसे भगवान है!" फिर शंकरजी के बारे में सोचा, "अपने पतिदेव के विषय में भी क्या कहूँ? क्या हो गया है इन्हें आज! इतने महान् हैं ये, जिनको विश्व प्रणाम करता है, इन्होंने एक साधारण-से राजकुमार को प्रणाम कर दिया।" परन्तु मुँह से कहती नहीं हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को कभी-कभी डर लगने लगता है कि यदि मैं कहूँ कि मेरे मन में यह सन्देह है, या मैं यह जानना चाहता हूँ – तो कहीं सामनेवाला व्यक्ति यह न समझ ले कि अरे, यह तो बुद्धिमान नहीं है, इनमें अज्ञान है, संशय है! बुद्धि की सारी समस्याएँ सतीजी के चरित्र में मिलती हैं। उन्हें शंकरजी की बुद्धि और भगवान राम के चरित्र पर भी सन्देह हुआ, पर वे कहती नहीं। शंकरजी सब जानते हैं। उन्होंने अपनी ओर से सतीजी से कहा – संशय हृदय में रखने की वस्तु नहीं है –

हर अंतरजामी सब जानी।।
सुनहि सती तव नारि सुभाऊ।
संसय अस न धरिअ उर काऊ।। १/५१/५-६

धारण करना स्त्रियों का स्वभाव है। माँ में गर्भधारण की क्षमता होती है, तभी वह पुत्र को जन्म देती है। शंकरजी बोले – यदि वह बालक को धारण करे, तब तो धन्य है, पर यदि हृदय में संशय को धारण कर ले, तो जो राक्षस पैदा होगा, वह लोक के लिए अहितकर होगा। यह प्रसंग यह बताने के लिए है कि अपने अभिमान के कारण बुद्धि हमें

बारम्बार कैसे भ्रमित कर देती है। जब शंकरजी ने कहा – ये ही हमारे इष्टदेव भगवान राम हैं, जिनकी कथा अभी हो रही थी, तो सतीजी स्वीकार नहीं कर पातीं। बुद्धिमान व्यक्ति कहता है – हम कैसे मान लें, यह तो हमें बुद्धिसंगत नहीं लगता। यदि मान लें, तो अन्धविश्वास हो जायेगा। सतीजी की यही स्थिति है। फिर जब भगवान शंकर कहते हैं कि जाकर परीक्षा ले लो, तो परीक्षा लेने चली जाती हैं।

परीक्षक हमेशा परीक्षार्थी से श्रेष्ठ होता है। ऐसा नहीं कि दूसरी कक्षा का विद्यार्थी बी. ए. की परीक्षा लेने लगे। पर जब वे ईश्वर की परीक्षा लेने गईं, तो वहाँ उनकी बुद्धिमत्ता तथा चतुराई का अभिमान थोड़ा क्षीण हुआ। उन्होंने परीक्षा लेने के लिये सीताजी का वेश बनाया। सोचा – यदि सर्वज्ञ होंगे तो समझ लेंगे कि सती हैं, नकली वेश बनाए हुए हैं। और यदि सर्वज्ञ नहीं होंगे, तो मुझे ही सीता समझ व्याकुल होकर मेरी ओर दौड़ेंगे। श्रीराम उन्हें देखते ही पहचान गये और लक्ष्मणजी भी पहचान कर सोचने लगे – यह क्या हो रहा है? भगवान शंकर की प्रिया आज सीताजी के रूप में प्रभु के सामने आ रही हैं! रहस्य जानकर वे बड़ी गम्भीरता के साथ सोचने लगे – पता नहीं, इसके पीछे प्रभु की क्या योजना है –

लछिमन दीख उमाकृत बेषा।
चकित भए भ्रम हृदयँ बिसेषा।।
कहि न सकत कछु अति गंभीरा।
प्रभु प्रभाउ जानत मतिधीरा।। १/५३/१-२

जादूगर जब कोई माया का पसारा करता है, तो देखकर सब चकित हो जाते हैं, पर उसका जम्बूरा या चेला चकित नहीं होता। वह तो यह सोचते हुए मुस्कराता है कि वाह गुरुजी, आपने यह क्या खेल प्रस्तुत कर दिया!

नट कृत बिकट कपट खगराया।
नट सेवकहि न व्यापइ माया।। ७/१०४/८

गोस्वामीजी ने इस प्रसंग में एक बड़ा सुन्दर शब्द चुना – लक्ष्मणजी ने 'उमा' का बनावटी वेश देखा। साहित्य और इतिहास की दृष्टि से यह सर्वथा असंगत है, क्योंकि सतीजी का नाम उस समय तक उमा नहीं था। वे जब पार्वतीजी के रूप में जन्म लेती हैं, तब उनका नाम उमा पड़ा। गोस्वामीजी यह भी लिख सकते थे – **लछिमन दीख सतीकृत भेषा** – तो यह चौपाई में और अर्थ में भी बिलकुल ठीक बैठ जाता – लक्ष्मण ने सती का बनाया हुआ वेष देखा। पर गोस्वामीजी जब कहते हैं – **लछिमन दीख उमाकृत भेषा** – तो इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मणजी यह दृश्य देखकर विचार करते हुए समझ गये कि यह कथा अन्त में कहाँ तक जानेवाली है? सती को उमा तक पहुँचाने वाली है। वे भविष्य में देख रहे हैं कि प्रभु जो लीला कर रहे हैं, वह बड़ा दूरगामी है, बहुत दूर जाकर उस स्थिति पर पहुँचेगी, जब इनका नाम 'सती' न रहकर 'उमा' हो जायेगा। लक्ष्मणजी इतने सर्वज्ञ हैं! पर मौन रहकर दृश्य देखते हैं।

हर बुद्धिमान की यही समस्या है और बुद्धि की समस्यायें बड़ी जटिल हैं! समर्थ रामदासजी ने एक बड़ी अच्छी बात कही – कुछ लोग इस डर से साधना करना छोड़ देते हैं कि देखनेवालों को लगेगा कि यह तो अभी साधक है, सिद्ध नहीं हुआ। सिद्ध होता तो माला छूट गई होती, साधन समाप्त हो गया होता। यदि ऐसा सिद्ध दिखाने का मोह उत्पन्न हो गया, तो व्यक्ति का इससे बढ़कर कोई पतन नहीं हो सकता।

भगवान सतीजी के कपट को जान गए –

सती कपटु जानेउ सुरस्वामी। ...
सोइ सरबग्य रामु भगवाना।। १/५३/३-४

प्रभु ने अपना परिचय देकर कहा – देवी सती, आपको मेरा प्रणाम है। शंकरजी ने प्रभु को प्रणाम किया था, पर भगवान ने सतीजी को प्रणाम किया। उनका तात्पर्य था कि जब शंकरजी ने मुझे प्रणाम किया, तो आपको बुरा लगा था कि आपके पतिदेव ने मुझे क्यों प्रणाम किया, लगा था कि कि मुझे प्रणाम करने से वे छोटे सिद्ध हुए; तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप सबसे बड़ी हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। इसके साथ ही प्रभु ने प्रश्न किया – वृषकेतु शिवजी कहाँ हैं?

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। ...
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू।। १/५३/७-८

सतीजी जब वहाँ से लौट आयीं, तो भी बुद्धि ने एक बार फिर अपना प्रभाव दिखा दिया। भगवान शंकर ने पूछा – किस विधि से परीक्षा ली। शंकरजी बोले – अनादि काल से अब तक मैं ईश्वर की परीक्षा की कोई विधि नहीं जान पाया। मुझे पता ही नहीं कि कोई ऐसी विधि हो सकती है, जिससे ईश्वर की परीक्षा की जाय। पर तुम लेकर आई हो, तो जरूर किसी नई विधि का आविष्कार हुआ होगा। तो बताओ, साथ ही एक महत्त्व की बात कही दी – बिलकुल सत्य बोलना –

लीन्हि परीछा कवन बिधि
कहहु सत्य सब बात।। १/५५

बुद्धिमान व्यक्ति कभी-कभी सत्य बोलना भी पसन्द नहीं करता। उसे हर क्षण यही चिन्ता रहती है कि सामनेवाला मुझे क्या समझ लेगा? उसका यही अहंकार उसे झूठ बोलने के लिये, नाटक करने के लिये बाध्य कर देता है। सतीजी कह सकती थीं – महाराज, मुझे तो बड़ा भ्रम हो गया था और मैं सीताजी का वेष बनाकर परीक्षा लेने गई, पर प्रभु ने मेरा भ्रम तोड़ दिया। उन्होंने ऐसा बिल्कुल भी नहीं कहा, बल्कि उल्टी ही बात कह दी। बोलीं – मैंने तो कोई परीक्षा ही नहीं ली। – फिर आप गई ही क्यों थीं? बोलीं – आपने प्रणाम किया था, सो मैं भी जाकर उन्हें प्रणाम कर आयी –

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं ।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं ।। १/५६/२

प्रणाम पहले प्रभु ने ही किया था, उन्होंने तो बिल्कुल भी नहीं किया था। अन्तर मानो यह बताया – महाराज, आपने दूर से प्रणाम किया था और मैंने सोचा थोड़ा पास से प्रणाम कर लूँ। अब भी अपनी श्रेष्ठता ही दिखाने की प्रवृत्ति है।

साधक के जीवन में बुद्धि के साथ, बुद्धिमत्ता के साथ ये ही समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। आप उनसे बच नहीं सकते। बुद्धि की जो समस्याएँ हैं, वे तो रहेंगी ही। विश्वास का मार्ग बहुत सीधा और सरल हो सकता है, पर यदि कोई बुद्धिमान है तो उसे लम्बे मार्ग से ही चलना होगा। यह उसकी बाध्यता है।

फिर वही बात हुई – सतीजी भगवान शंकर से असत्य बोल गईं। शंकरजी को जब ज्ञात हुआ कि इनमें कपट है, संशय है, भ्रम को छिपाने की चेष्टा है, भीतर सब होते हुए भी छिपाने की यह वृत्ति है, तब वे एक संकल्प लेते हैं। जहाँ ऐसी दोषयुक्त बुद्धि हो, वहाँ क्या करना चाहिए? क्या उसे बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया जाय? किसी ने प्रार्थना की – 'मुझे बना दो बुद्धिहीन भगवान !' तो क्या बुद्धिहीन हो जाना चाहिये? शंकरजी ने यह निर्णय नहीं लिया कि सती का परित्याग कर देना चाहिए। उन्होंने कहा – जब तक सती वर्तमान शरीर में हैं, जब तक इनका नया जन्म नहीं होगा, तब तक मैं इन्हें पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करूँगा –

एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं ।। १/५७/२

यहाँ सूत्र यह है कि जो बुद्धि ईश्वर को देखकर संशयग्रस्त हो, भ्रमित हो, असत्य एवं कपट का आश्रय ले, उसका जब तक पुनर्जन्म न हो जाय, तब तक वह विश्वास के निकट नहीं पहुँच सकती। पुनर्जन्म की यह प्रकिया है, बड़ी दुखदाई है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर अति-बुद्धिमान व्यक्ति के सामने यह समस्या आती हैं। यहाँ दोष-गुण का प्रश्न नहीं है; आप जिस मार्ग से चल रहे हैं, यह उस मार्ग की समस्या है, इसे आपको स्वीकार करना पड़ेगा। शंकरजी प्रतिज्ञा तो करते हैं, पर उसे प्रगट नहीं करते। पर आकाशवाणी से घोषणा होती है – वाह, ऐसी प्रतिज्ञा आपको छोड़ दूसरा कौन कर सकता है? इतना बड़ा त्यागी दूसरा कौन होगा?

अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना ।
रामभगत समरथ भगवाना ।। १/५७/५

आकाशवाणी की बात कुछ गोलमोल-सी थी। शंकरजी बोले नहीं थे। सतीजी कहने लगीं, "महाराज, आकाशवाणी हुई है, आपने कोई प्रतिज्ञा की है? हे कृपालु, बताइए आपने क्या प्रतिज्ञा की है?" और अगला वाक्य बड़ा विचित्र है। बोलीं – सच-सच बताइएगा, क्योंकि आप सत्यधाम हैं –

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला ।
सत्यधाम प्रभु दीनदयाला ।। १/५७/७

स्वयं इतना झूठ बोल रही थीं और शंकरजी से कहती हैं – आप सच बोलिए। पर शंकरजी प्रशंसा के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने बिल्कुल नहीं बताया। साधक के जीवन का यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र है। कई लोग जीवन में कोई पश्चात्ताप हो, तो उसे वाणी द्वारा बारम्बार प्रगट करते रहते हैं। वाणी द्वारा प्रगट कर देने से साधक को हानि होती है।

गोस्वामीजी ने सतीजी के हृदय की तुलना 'आँवें' से की है। ग्रामीण पद्धति से जो घड़ा, खपरैल या मिट्टी के बर्तन बनानेवाले हैं, वे जब बर्तन बनाने के बाद, सारे कच्चे बर्तनों को पकाने के लिये जो अग्नि जलाते उसे आँवाँ कहते हैं। आँवाँ लगाना बहुत बड़ी कला है। कई कुम्हारों के बनाए हुए बर्तन आप देखेंगे कि सब पूरे-के-पूरे पके हुए हैं और कई कुम्हारों के कुछ बर्तन पके और कुछ अधपके रह जाते हैं। उनका कुछ भाग पककर लाल हो जाता है और कहीं कहीं काला पड़ जाता है। गोस्वामीजी ने साधकों के लिए सूत्र देते हुए कहा – हृदय आँवें के समान अधिकाधिक तपने लगा –

तपइ अवाँ इव उर अधिकाई ।। १/५८/४

आँवें में कौन-से बर्तन काले हो जाते हैं? यदि आँच भीतर की ओर जायगी, तो बर्तन पकेगा और कहीं से फूटकर जितने हिस्से में आँच बाहर जायगी, उतने हिस्से में काला पड़ जायगा। अन्त:करण से पश्चात्ताप होना तो बड़ी अच्छी बात है, यह अग्नि है। यह साधक के अन्त:करण की वृत्ति को परिपक्व बना सकती है। लेकिन उसको भीतर-ही-भीतर पचाना है, उसको भीतर-ही-भीतर तपना है। भगवान शंकर सतीजी को नहीं बताते कि तुमने सीताजी का वेष बनाया, वे यह नहीं कहते कि मैंने तुम्हारा परित्याग किया है, तो इसका कारण यह है कि वे चाहते हैं कि इनका दु:ख इनके हृदय में ही सुलगाता रहे, वाणी से व्यक्त न हो जाय।

यदि आकाशवाणी न हुई होती, तब तो सतीजी को पता ही नहीं चलता कि शंकरजी ने उनका परित्याग किया है। आकाशवाणी यदि स्पष्ट कह देती कि इन्होंने त्याग की प्रतिज्ञा की है या शंकरजी स्वयं कह देते, तो सतीजी कहतीं – महाराज, मुझसे बड़ा अपराध हो गया, बड़ी भूल हो गई, मुझे क्षमा कर दीजिए। वे शब्दों के द्वारा जो कुछ कहतीं, वह शाब्दिक ही रह जाता। कभी-कभी तो क्षमायाचना भी दम्भ बन जाती है। शंकरजी यह चाहते हैं और आकाशवाणी का उद्देश्य है कि इनके हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि इन्हें भीतर -ही-भीतर इनको जलाये। साधना का पथ इतना ही कठिन है। कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी को लाकर उसे कूटेगा, पानी डालकर उसे गीला करेगा, गीला करके उसे चाक पर चढ़ायेगा, चक्कर में डालेगा, तब उसे आकृति देगा और आकृति देने के बाद – जिसे उसने पानी में भिगाया था, उसी को अब आग में डाल देगा। साधना का पथ ऐसा ही

है। उसमें कभी जल की शीतलता है, तो कभी अग्नि की दाहकता है। सतीजी की परिपक्वता के लिये ही भगवान शंकर नहीं बताते। अब सतीजी के हृदय में पश्चात्ताप होता है। समझ गईं कि मैंने कपट किया है, इसीलिये भगवान शंकर ने मेरा परित्याग किया है। भगवान शंकर तो बोल नहीं रहे हैं और सतीजी पश्चात्ताप के आँवें में जल रही हैं। लेकिन बुद्धि की यह स्थिति कितनी दुखदायी है !

इसके बाद सतीजी के पिता यज्ञ करते हैं। वे आकाश से विमानों को जाते देखकर शिवजी से पूछती हैं – महाराज, ये कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं? बोले – तुम्हारे पिता के घर में यज्ञ हो रहा है, देवता जा रहे हैं। उन्होंने पूछा – महाराज, आप? बोले – तुम्हारे पिता कभी ब्रह्मा की सभा में मुझसे दु:ख मान गये थे, इसीलिए मेरा अपमान करने के लिए मुझे निमंत्रण नहीं दिया। सतीजी में अब भी कितना कठिन संस्कार है ! मान लीजिए एक बर्तन है, उसे अच्छी तरह माँजकर-धोकर साफ कर लीजिए, पर यदि बर्तन की धातु में ही कोई कमी हो, तो क्या करेंगे ! कभी-कभी मिट्टी के बर्तन में बहुत दिन तक घी रखा जाय, तो उसे आप साफ करके निकाल सकते हैं, पर उसके कण-कण में जो घी पैठ गया है, उसको निकालने का क्या उपाय है? उन्होंने शंकरजी से कहा – "महाराज, आपको निमंत्रण नहीं दिया, तो कोई बात नहीं, मैं यह नहीं कहूँगी कि आप चलिए, लेकिन वे हमारे पिता हैं और पुत्री को पिता के घर से निमंत्रण की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। मैं चली जाऊँ?" शंकरजी बोले – नि:सन्देह पिता, मित्र, स्वामी और गुरु के घर बिना बुलाए भी जाना चाहिए, परन्तु जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जाने से भला नहीं होता। अत: मुझे लगता है कि तुम्हें नहीं जाना चाहिए –

जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा।
जाइअ बिनु बोलेहुँ न सँदेहा।।
तदपि बिरोध मान जहँ कोई।
तहाँ गएँ कल्यानु न होई।। १/६२/५-६

भगवान शंकर तो सर्वज्ञ हैं, तथापि वे दिखाना चाहते हैं कि बुद्धि का अपना एक दुराग्रह होता है। सतीजी इतना कष्ट सह चुकीं, इतनी भ्रमित हो चुकीं, इतना बड़ा संकट आया, तो भी – मैं उनकी बेटी हूँ और वे हमारे पिता हैं – इस सम्बन्ध का संस्कार उनके चित्त में इतना गहरा है कि बोलीं, "महाराज, मैं आपसे बहुत प्रेम करती हूँ, आप चाहे जो कहें, पर आपके लिए मैं पिता को छोड़ दूँ, यह सम्भव नहीं है।"

बुद्धि का यह कितना बड़ा आग्रह है ! किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – तो सती भवानी ने ऐसा कहा? वे बोले – शिवजी ने अनेक प्रकार से समझाया, पर वे नहीं रुकीं –

कहि देखा हर जतन बहु, रहइ न दच्छकुमारि।।१/६२

सतीजी के जीवन में शिव-पत्नी की अपेक्षा दक्ष-पुत्री का संस्कार अधिक प्रबल है। वे बिना बुलाए जाती हैं। शंकरजी ने सोचा – अकेली जायेंगी, तो वहाँ चर्चा चलेगी। लोग कहेंगे कि झगड़ा करके आई हैं। इनका अनादर हो जाएगा, अत: वे अपने गणों से साथ जाने के लिये कह देते हैं।

वहाँ पहुँचकर सतीजी को पूर्ण बोध हो जाता है कि मैं बारम्बार एक ही भूल दुहराती हूँ, बारम्बार शंकरजी की बात नहीं मानती। यहाँ तो किसी ने भी मुझे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। मैं सोचती थी कि जाने पर पिताजी गद्गद हो जायेंगे कि बेटी, बड़ा अच्छा हुआ, तुम आ गई। बहनें भी कहेंगी कि तुमसे मिलने की बड़ी इच्छा थी। परन्तु – दक्ष ने तो उनकी ओर देखा तक नहीं। दक्ष के भय से किसी ने उनका स्वागत भी नहीं किया; और बहनें मिलीं तो जरूर, पर उनकी ओर व्यंग्य भरी मुस्कान से देखती हुई मिलीं –

दच्छ त्रास काहुँ न सनमानी।। ...
भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता।। १/६३/१-२

वहाँ के परिवेश में उन्होंने पाया कि यहाँ शिव का इतना अनादर है, तब उन्होंने निर्णय किया कि मैं इस शरीर का परित्याग करूँगी और इसलिये करूँगी कि यह शरीर दक्ष के द्वारा बना हुआ है; जब तक यह शरीर रहेगा, तब तक मैं चाहकर भी पूरी तरह से शिव-भावना में जुड़ नहीं सकूँगी।

अब तक मैं समझती थी कि मेरे पिताजी या मैं ही संसार में सबसे अधिक बुद्धिमान हैं, पर आज उनकी समझ में आया कि भगवान शंकर जगत्पिता और सबके हितकारी हैं और उनकी निन्दा करनेवाले मेरे पिता महामूढ़ बुद्धि के हैं। परन्तु चूँकि यह शरीर दक्ष के शुक्र से बना है, अत: मैं हृदय में शिवजी को धारण करके इस देह को तुरंत त्याग दूँगी –

जगदातमा महेसु पुरारी।
जगत जनक सब के हितकारी।।
पिता मंदमति निंदत तेही।
दच्छ सुक्र संभव यह देही।। १/६४/५-७
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू।
उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू।।

ऐसा कहकर सतीजी ने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर डाला। सारी यज्ञशाला में हाहाकार मच गया –

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।
भयउ सकल मख हाहाकारा।। १/६४/८

बुद्धि-रूपी सतीजी को मानो अब पूरी तरह से ज्ञात हो गया कि जब तक मैं बुद्धिमत्ता के अहंकार से जुड़ी हुई हूँ, तब तक मैं विश्वास-रूपी शिवजी के सामीप्य को सही अर्थों में स्वीकार नहीं कर सकूँगी।

❖ (क्रमशः) ❖

कौन अपना कौन पराया

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा तीन पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

वह एक दुखिनी विधवा थी। दो-तीन बच्चों की माँ थी। कठोर परिश्रम करके भी वह दोनों समय थोड़े-से भोजन की व्यवस्था नहीं कर पाती थी। उसने निश्चय किया कि अपने भाई से थोड़ी-सी सहायता पाने की चेष्टा करके देखूँ। भैया और भाभी के पास दो-चार दिन रहकर अपने दुख-सुख की बातें कह-सुनकर जी हल्का कर आऊँगी – यह सोचकर एक दिन बड़े सबेरे वह रवाना हो गयी। तेजी से रास्ता चलते हुए वह ठीक दोपहर में भाई के घर जा पहुँची। भाभी बरामदे में ही बैठी हुई थीं। पहुँचते ही उनका चरण-स्पर्श किया और बच्चों से भी उन्हें प्रणाम कराया। – "भाभी, सभी कुशल से हैं न ! भैया कहाँ हैं?" भाभी ने क्षण भर मौन के बाद कहा, "किसी तरह चल रहा है ! वे काम पर गये हुए हैं।"

इतना कहकर वे घर के भीतर चली गयीं। कुशल प्रश्न तो दूर की बात, एक बार बैठने तक को नहीं कहा। भाभी के चले जाने और उनके बात करने का ढंग देखकर अप्पा को समझते देर न लगी कि वे उसके आने से जरा भी प्रसन्न नहीं हैं, बल्कि नाराज ही हुई हैं। वह जो आशा-भरोसा लेकर आयी थी, वह सब क्षण भर में ही चकनाचूर हो गया। परन्तु इसके लिये उसे कोई विशेष दुख या चिन्ता नहीं थी। वह ५-७ साल के बच्चों को साथ लिये इतना रास्ता चलकर आयी थी। बच्चे भूख से कातर थे। उनके मुख में थोड़ा-सा अन्न पड़ जाने से ही वह निश्चिन्त हो जाती। परन्तु भाभी तो बाहर भी नहीं आ रही हैं और भीतर भी नहीं बुला रही हैं। अहा, बच्चों का मुख सूख गया है ! परन्तु अब किया भी क्या जाय ! वह घर के बरामदे में बैठी हुई अपने असह्य दु:ख के बोझ को सीने पर लादे हुए रो रही थी और अपने भाग्य को धिक्कार रही थी। सोच रही थी – "ठीक है, मैं तो उपवास कर लूँगी, परन्तु इन बच्चों का क्या होगा? हाय, हाय, यहाँ आने की ही क्या जरूरत थी ! सूखा नमक-भात जुट रहा था, उसी को खाकर मजे में थे। परन्तु आज तो बच्चों के मुख में वह भी नहीं दे पा रही हूँ। हे जगदम्बे ! कितने दिन, और कितने दिन ऐसे ही दु:ख देती रहोगी माँ ! दैनिक मजदूरी पर निर्भर हूँ, जिस दिन काम मिलता है, उस दिन खाने को जुटता है। जो इस प्रकार के दु:खों के बीच जीवन-यापन कर रहा है, केवल वही इसे समझ सकता है !

अप्पा का हृदय मानो कोई गमछा निचोड़ने के समान मरोड़ रहा था। वह "हे जगदम्बे !" कहती हुई गहरी साँस लेकर उठ खड़ी हुई। सोच रही थी, "नहीं, अब यहाँ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। दो बजने चले हैं और मेरे बच्चों को थोड़ा-सा पानी तक नहीं मिला। देखूँ, विधाता अन्य कहीं जुटाता है या नहीं !" बच्चे भी मानो माँ का दु:ख और मामी के सुर में अनादर का भाव समझकर चुपचाप माँ के साथ चल पड़े। सबसे छोटा बच्चा अपनी अंगुली चूसते हुए अपनी माँ की ओर देख रहा था। माँ के प्राणों में कितनी चोट लगी थी, उसे कितना दु:ख हुआ था, उसे भी क्या वह समझ सका था? जब उसने चलने के लिये एक पाँव उठाकर बाहर रखा, तो भाभी (अपने चेहरे पर आयी कठोरता को छिपाते हुए) आकर बोली, "खाकर ही जाने में क्या हर्ज था !" मुड़ते ही उसने देखा कि उसका भैया दरवाजे के पीछे छिपा हुआ खिसका जा रहा है। मानो बिजली का एक प्रबल झटका उसके पाँव से लेकर सिर तक दौड़ गया। – "ओह, तो भैया भी है ! मेरा भैया भी इतना निष्ठुर हो सकता है !"

बोली, "नहीं भाभी, अब घर जाकर ही खाऊँगी।" वह अपना रुदन रोक नहीं पा रही थी। आँखों से आँसुओं की धार बही जा रही थी। – "क्या दु:खों का कोई अन्त नहीं? हे माँ जगदम्बे ! क्या तुमने भी मेरा परित्याग कर दिया है? मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया था कि इस दुधमुँहे बच्चों के मुख में भी कुछ नहीं दे सकी ! छी ! इन बच्चों के लिये ही तो भैया के घर आयी थी, अकेले का पेट रहता, तो इतना कष्ट नहीं होता ! सब मेरा कर्मभोग है, नहीं तो ऐसा क्यों होता? माँ, मैंने सुना है कि तुम दु:खहारिणी हो, जरा मेरी ओर भी मुख उठाकर देखो न ! मुझसे अब और नहीं सहा जाता !"

* * *

"बहन, इस असमय में रोते हुए कहाँ जा रही हो?" – जुगी जुलाहे ने पूछा। वह अपने बरामदे में बैठकर चिलम पी रहा था। जुगी का हृदय उदार तथा कोमल था। वह अप्पा को पहचानता था। अपनी क्षमता में होने पर, वह यथासाध्य लोगों की सहायता करता, नहीं तो दो-चार सहानुभूतिपूर्ण बातें कहकर उनका दु:ख घटाने की चेष्टा करता। इसीलिये, सरल भगवद्-विश्वासी जुगी यद्यपि निम्न वर्ण का था, तथापि सभी वर्णों के लोग उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

"जुगी भाई, दुनिया में अब मेरा कोई नहीं रहा ! लगता है कि ईश्वर ने भी मेरा त्याग कर दिया है ! एक माँ के पुत्र

(शेष अगले पृष्ठ पर – नीचे)

मदालसा का पुत्रपालन

अक्षय कुमार बन्द्योपाध्याय

आज हम एक महीयसी नारी के चरित्र का स्मरण करेंगे। इनका नाम था मदालसा। इनके चिर-स्मरणीय चरित्र का मार्कण्डेय पुराण में सविस्तार वर्णन हुआ है। वे विश्वावसु नामक एक गन्धर्व की कन्या और ऋतध्वज नामक एक राजा की पत्नी थीं। भगवान शंकर की कृपा से वे तत्त्वज्ञान तथा योगविद्या में पारंगत हो गयी थीं। उन्हें 'कृपा-सिद्ध' कहा जा सकता है। उनके अन्तर में पूर्ण तत्त्वदृष्टि थी, तथापि व्यवहारिक जीवन में वे एक साधारण गृहकर्म में रत पतिव्रता नारी मात्र थी। वे अपने जीवन के द्वारा समस्त मातृजाति के लिये – सन्तान को अति शैशव काल से ही तत्त्वज्ञान की शिक्षा-दीक्षा प्रदान करने का एक महान् आदर्श छोड़ गयी हैं। वे ऐसा नहीं समझती थीं कि शिशु कुछ भी नहीं। पृथ्वी पर आते ही मानव-शिशु का मन गठित होने लगता है। उसी समय से, वह जो कुछ शिक्षा प्राप्त करता है, वह अज्ञात रूप से उसके संस्कारों को पुष्ट करते हुए उसके मन को एक विशिष्ट आकार प्रदान करता है। सन्तान का जन्म होते ही माता मदालसा ने उसे शिक्षा देने का कार्य आरम्भ कर दिया। गृहस्थ-जीवन में माता का यही एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

उनके पहले पुत्र का जन्म होने पर पिता ने उसका नाम रखा 'विक्रान्त'। क्षत्रिय लोग अपने पुत्र को विक्रमशील ही देखना चाहते हैं। माता मदालसा हँस पड़ीं। नाम-रूपातीत सर्व-सम्बन्ध-रहित सच्चिदानन्दमय परमात्मा एक छोटे-से शिशु देह में राजकुमार के रूप में प्रकट हुए हैं। वे ही राजा के रूप में पितृत्व का अभिमान करते हुए शिशु को पुत्र तथा उत्तराधिकारी के रूप में देखकर उल्लास प्रकट कर रहे हैं। माया का यह कैसा विचित्र विलास है ! शिशु कोमल बिस्तर पर सोता था और उच्च स्वर में रोता था। माता मदालसा उसे गोद में लेकर स्नेह करतीं और सांत्वना देते हुए गातीं –

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव ।।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ।।

– बेटा, तू तो शुद्ध आत्मा है; तेरा तो कोई नाम नहीं है। इस देह में अभी-अभी कल्पना के द्वारा तुझे एक नाम दिया गया है। यह पंच-भूतात्मक देह – भी तेरा नहीं है, तू भी इस देह का नहीं है। तो फिर तू रो क्यों रहा है?

फिर बोलीं, "नहीं, नहीं, तू रो मत ! शब्द अपने आप ही

पिछले पृष्ठ का शेषांश

होकर भी मेरा सहोदर भाई मुझे देखकर छिप जाता है। कितने कष्ट में पड़कर मैं थोड़ी-सी सहायता के लिये उसके पास आयी थी, परन्तु ... (उसकी आँखों से मानो सावन-भादो की धारा फूट पड़ी) परन्तु अब क्या कहूँ, इन दुधमुँहे बच्चों के भी मुख में आज कुछ नहीं पड़ा।"

जुगी को अपने इस अभागी बहन का दुःख समझते देर नहीं लगी। उसके प्राण रो उठे। वह बोला, "बहन, भय की कोई बात नहीं। जब तक तुम्हारा यह जुगी भाई जीवित है, तब तक तुम निश्चिन्त रहो। आओ, मैं सारी व्यवस्था कर दूँगा। भोजन बनाकर खाने के बाद थोड़ा विश्राम करके उसके बाद घर लौटना।" उसका पुत्र सामने ही था, उससे बोला, "जल्दी जा, अपनी माँ से कह दे कि वह तेरी बुआ के लिये भोजन की व्यवस्था करे।" और बैठने के लिये चटाई बिछा दी। दुखिया अप्पा का हृदय कृतज्ञता से भर उठा। उसके मन में जुगी कुमार का चरण-स्पर्श करने की इच्छा हो रही थी। वह सोचने लगी, "यह भी तो आदमी है ! जो अजाना होकर भी आज बहन बोलकर बैठने को कह रहा है और मेरे ... मेरे अपने भाई ने भेंट तक नहीं की ! हाय रे संसार !" वह जुगी से बोली, "इतने विलम्ब से रसोई करने में तो काफी देरी होगी। पका हुआ कुछ बचा नहीं है क्या? इन बच्चों को ही थोड़ा कुछ खिला देने से ही मैं निश्चिन्त हो जाती। मैं स्वयं घर जाकर खा लेती।" इसी बीच जुगी की पत्नी भी आ गयी थी, पूछा, "दीदी, क्या हमारा भोजन चलेगा? हम तो... ।" अप्पा – "खूब चलेगा भाभी ! दुखिया का भला कैसा जाति-विचार ! जो जिसे अपना मानता है, वह उसी का हो जाता है। मैं तुमसे छोटी हूँ। जुगी मेरा सचमुच का भैया है और तुम मेरी सचमुच की भाभी हो !"

संध्या हो चली थी। अप्पा को घर पहुँचाने के लिये जुगी का पुत्र लाखो गाड़ी जोत रहा था। नयी बुआ के लिये उसने गाड़ी में अनाज भर लिया था, ताकि उनके जीवन-यापन में अब अन्न का कष्ट न हो। विदा लेते समय अप्पा की आँखों में आँसू भर आये थे। अब उसके सीने में बल था और मन में भरोसा ! उसकी सचमुच की भाभी ने उसे अपनी बाँहों में जकड़ लिया था। बच्चों को गोद में लेकर उन्हें चूमा। इस सच्चे भाई ने कहा, "अप्पा बहन, फिर आना। कोई आवश्यकता होने पर अपने इस जुगी भाई को याद रखना" – इतना कहकर उसने स्नेहार्द्र चित्त के साथ उसे विदा किया।

❑❑❑

उत्पन्न होते हैं और देह के साथ सम्बन्धयुक्त होकर रुलाई के रूप में प्रकट होते हैं। इस देह-इन्द्रियों का आधार लेकर जितने भी गुण तथा दोष प्रकट होते हैं, सभी देह-इन्द्रियों के विकार हैं; तेरा तो न कोई दोष है और न कोई गुण, तो भी तेरे ऊपर ये दोष-गुण आरोपित होते हैं।

माता मधुर स्वर में श्लोकों की आवृत्ति करते हुए विशुद्ध आत्मतत्त्व का वर्णन करतीं। उनके अन्तर की अनुभूतियों से मिलकर ये श्लोक जीवन्त हो उठते और वे शिशु में उसके सच्चिदानन्द-स्वरूप का दर्शन करके तन्मय हो जातीं। शिशु भी अपना रोना भूलकर अपनी माता के स्नेहपूर्ण सुमधुर गीत को तन्मय होकर सुनता। माता के प्राणों की अनुभूतियाँ शिशु के चित्त में प्रविष्ट होतीं और उन्हीं भावों से अनुप्राणित होकर शिशु के संस्कारात्मक मन का गठन होता रहता। आयु में वृद्धि के साथ-साथ शिशु के विचार तथा अनुभव की शक्ति ज्यों-ज्यों विकसित होती जाती, त्यों-त्यों माता के उपदेश उसके विचारों तथा अनुभव में जाग्रत, जीवन्त तथा शक्तिशाली रूप में देदीप्यमान हो उठता।

पुत्र के थोड़ा बड़े होने पर उसे पिता तथा शिक्षकों के द्वारा अनेक प्रकार के व्यावहारिक विद्याओं का ज्ञान कराया गया। राजकुमार ने उपयोगी शिक्षा में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली। इसके साथ-ही-साथ उनकी माता द्वारा तत्त्वज्ञान की शिक्षा भी चलती रही। उस तत्त्वज्ञान के आलोक में उसके समस्त जागतिक ज्ञान तथा कर्म पवित्र, सुन्दर तथा मधुर रूप में विकसित हुए। वे माता के अनुग्रह से प्राप्त परम तत्त्व के ज्ञान को हृदय में रखकर, बाहर अनासक्त किन्तु निपुणतापूर्वक सारे राजकार्य तथा लोकहित के कार्य चलाने में सक्षम हुए।

कालक्रम से मदालसा तथा ऋतध्वज के दूसरे तथा तीसरे पुत्र का भी जन्म हुआ। पिता ने उनका नाम सुबाहु तथा शत्रुमर्दन रखा। हर बार नामकरण के समय मदालसा हँस देती। पति को इस हँसी के पीछे कोई भी अर्थ समझ में नहीं आता। माता ने पहले पुत्र के समान ही दूसरे तथा तीसरे पुत्र को भी स्नेह-दुलार के साथ, स्तनपान के साथ, खेलकूद के साथ ही गम्भीर तत्त्वज्ञान के उपदेश भी देती रहीं। इनकी आयु में वृद्धि होने पर भी वे उन्हें उस कौशल की शिक्षा देने लगीं, जिसके द्वारा अपने समस्त कार्यों तथा व्यावहारिक ज्ञान को तत्त्वज्ञान के द्वारा अनुप्राणित करके संसार में प्रयोग किया जा सकता है। माता के कृपा-प्रसाद से तीनों ही पुत्र गुणी तथा ज्ञानी हुए। तीनों पुत्र संसार में अनासक्त होते हुए भी अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान थे। उनमें से किसी की भी सकाम कर्मों में रुचि न थी; किसी के प्रति शत्रुता, हिंसा, घृणा, अनिष्ट आदि करने का भाव न था। दूसरों को दबाकर स्वयं बड़ा होने की आकांक्षा न थी। दिग्विजय करके अपने साम्राज्य का विस्तार करने की इच्छा न थी। ये लोग सबके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बनाने को उत्सुक थे। उनके अन्तर में कोई दुश्चिन्ता, दुर्भाव या चंचलता न थी। उनका जीवन प्रफुल्ल, अहंता-ममता-शून्य, कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभिमान से रहित और ज्ञान-ज्योति से उद्भासित था।

यथासमय जननी मदालसा ने चौथे पुत्र को जन्म दिया। राजा ऋतध्वज को पिछले पुत्रों के नामकरण के समय मदालसा की हँसी की बात याद आ गयी, अतः इस बार यह भार उन्होंने रानी को ही दिया। उन्होंने पुत्र को नाम दिया – अलर्क। नाम सुनकर राजा को हँसी आ गयी। उन्होंने पूछा – इस नाम का क्या अर्थ है? रानी ने कहा – महाराज, नाम का कोई अर्थ होना आवश्यक नहीं है। नाम के शाब्दिक अर्थ के साथ न तो आत्मा का कोई सम्बन्ध है, न देह का और न चरित्र का ही कोई सम्बन्ध है। नाम तो केवल लौकिक व्यवहार चलाने हेतु एक शाब्दिक संकेत मात्र होता है। मैंने जो नाम दिया है, वह जैसे निरर्थक है; वैसे ही आपके दिये हुए सारे नाम भी निरर्थक हैं। नाम के द्वारा इनके अन्तर्जीवन या बहिर्जीवन का कोई भी परिचय नहीं मिलता। हाँ, जो लोग नामकरण करते हैं, उनकी कामना-वासना, आशा-आकांक्षा का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य मिल जाता है। तत्त्ववादिनी रानी की बातें सुनकर राजा मौन रह गये।

स्तनपान के साथ-ही-साथ पुत्र अलर्क की शिक्षा आरम्भ हुई। इस बार राजा ने रानी से एक अनुरोध किया था, "प्रथम तीन पुत्रों को तो निवृत्ति-मार्ग की शिक्षा दी जा चुकी है, अब इस चौथे पुत्र को प्रवृत्ति-मार्ग की शिक्षा देना उचित होगा, अन्यथा वंश की धारा लुप्त हो जाने की आशंका है। प्रवृत्ति-मार्ग में आस्था न हो, तो गार्हस्थ्य-धर्म के कर्तव्यों का उत्साहपूर्वक सम्पादन नहीं किया जा सकता। इससे समाज तथा राष्ट्र के अभ्युदय में बाधा आती है; और यदि समाज तथा राष्ट्र का अभ्युदय न हो, तो निवृत्ति-मूलक धर्म के पालन में भी बाधा आती है।

पतिव्रता रानी ने राजा का आदेश शिरोधार्य कर लिया। शिशु को भूख लगने पर स्तनपान कराने, रोने पर सांत्वना देने, हाथ-पाँव हिलाने पर उत्साह देने और खेलते समय आनन्द देने के साथ-ही-साथ माता मदालसा ने पुत्र अलर्क के अन्तःकरण में राजोचित मर्यादाबोध जगाने तथा कर्मठ जीवन के आदर्श का विकास करने में लग गयीं। दुष्टों का दमन तथा शिष्टों का पालन, शिक्षा का प्रचार-प्रसार, देश तथा समाज में शान्ति-सामंजस्य बनाये रखना, निर्धनों की सेवा, देवद्विज की भक्ति, याग-यज्ञ आदि को प्रोत्साहन आदि महान् आदर्शों द्वारा वे पुत्र के चित्त को अनुप्राणित करने लगीं। आयु में वृद्धि के साथ-साथ उसे समकालीन राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण, नृऋण, भूतऋण, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि समस्त विषयों की सुशिक्षा

प्रदान करती रहीं। माता से उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त करके अलर्क अपने विख्यात राजवंश का एक सुयोग्य उत्तराधिकारी हो उठा। राजा तथा रानी ने अपनी वृद्धावस्था में अलर्क के हाथों में राज्यभार सौंपा और नित्य-निरन्तर ब्रह्मज्ञान ब्रह्मध्यान, ब्रह्मानन्द-रसपान में विभोर रहने के निमित्त वन में जाने का संकल्प लिया। प्रथम तीन पुत्रों के मन में राज्य चलाने के प्रति कोई आकर्षण न था। उन्हें तो केवल तत्त्व के अध्ययन-मनन में ही रुचि थी। उन लोगों ने भी स्वेच्छापूर्वक छोटे भाई को राज्य देकर मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण मनोनियोग किया। अलर्क ने आनन्दपूर्वक धर्मसाक्षी करके राज्य का उत्तरदायित्व स्वीकार किया।

माता मदालसा ने वानप्रस्थ हेतु विदा लेते समय अलर्क को एक सोने की अंगूठी देते हुए कहा – इस अंगूठी के भीतर एक रेशमी वस्त्र पर महीन अक्षरों में मेरा अन्तिम उपदेश लिखा हुआ है; जीवन में जब कभी घोर समस्याओं से घिर जाना, तो उसे खोलकर पढ़ लेना।

अलर्क ने दीर्घकाल तक शूरता, वीरता और धर्मनिष्ठा के साथ राज्य चलाया, याग-यज्ञों का अनुष्ठान किया, असाधारण प्रभाव तथा समृद्धि की उपलब्धि की, प्रजाजन को सन्तुष्ट रखा और राजवंश की मर्यादा में वृद्धि की। उन्होंने यथेष्ट भोग-विलास भी किया और उन्हें अनेक पुत्र-पौत्र आदि भी प्राप्त हुए। परन्तु इस दीर्घकाल के दौरान उनके मन में विवेक का उदय नहीं हुआ, संसार के प्रति वैराग्य नहीं हुआ और अहंता-ममता तथा मोह में कमी नहीं आयी।

ज्ञाननिष्ठ बड़े भाइयों के चित्त में उसके प्रति करुणा का उद्रेक हुआ। उन लोगों को लगा कि ऐसी माता का पुत्र होकर भी अलर्क अपने मातृधन से वंचित रह गया है और अपना दुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही नष्ट कर रहा है। सुबाहु ने उसका उद्धार करने का संकल्प लिया। कोई अन्य सहज उपाय न देखकर उन्होंने काशीराज से सहायता माँगी। उन्होंने काशीराज को बताया कि उनके छोटे भाई ने अन्यायपूर्वक उनके पिता के राज्य पर अधिकार कर रखा है और वे राज्य पाने के लिये उनकी सहायता चाहते हैं। काशीराज ने सुबाहु को साथ लेकर अलर्क के राज्य पर आक्रमण कर दिया। अलर्क के अनेक मित्र भी शत्रुपक्ष से जा मिले। कोषागार खाली हो गया। अलर्क को महान् संकट का सामना करना पड़ा। अब उन्हें अपनी माता द्वारा प्रदत्त उस सोने की अंगूठी की याद आयी। अपनी आन्तरिक भक्ति, श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ उन्होंने उस अंगूठी को खोला और अपनी माता के अन्तिम उपदेश का पाठ किया। उसमें लिखा हुआ था –

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां संगो हि भेषजम् ।।
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेत् शक्यते न सः ।
मुमुक्षां प्रति तं कार्यं सैव तस्यापि भेषजम् ।।

– संग (आसक्ति) पूरी तौर से त्याग देने योग्य है; परन्तु यदि तुम इस त्याग में असमर्थ हो, तो संग सज्जनों का करना। साधुसंग ही समस्त रोगों की दवा है। कामनाओं का पूरी तौर से त्याग कर देना चाहिये; परन्तु यदि तुम समस्त कामनाओं को त्यागने में असमर्थ होओ, तो अपने हृदय में एकमात्र मोक्ष की कामना को ही जाग्रत रखो, यह मुमुक्षा ही समस्त कामना-रोगों की दवा है।

माँ के अन्तिम उपदेश को बारम्बार पढ़कर अलर्क के निराश हृदय में आशा का संचार हुआ। वे किसी जीवन्मुक्त सन्त की खोज में निकल पड़े। सौभाग्यवश उनकी योगिराज दत्तात्रेय से भेंट हो गयी। अलर्क ने इन लोकोत्तर सन्त के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। माँ के आशीर्वाद के प्रभाव से उनके रोग का निदान अपने आप ही उनके हृदय में उदित होने लगा। दत्तात्रेय के पूछने पर उन्होंने स्वयं ही कहा कि अहंकार तथा ममता ही उनका रोग है और उसके प्रतिकार हेतु ही वे शरणागत हुए हैं।

योगिराज दत्तात्रेय ने करुणा से अभिभूत होकर मदालसा-पुत्र अलर्क को ज्ञान तथा योग का उपदेश दिया और अहंकार तथा मोह-ममता से मुक्त होने का आशीर्वाद भी दिया। अलर्क के चित्त से मोह का अन्धकार दूर हो गया। वे गुरुजी को प्रणाम करके तत्काल काशिराज के शिविर की ओर दौड़े। काशिराज तथा उनके भाई सुबाहु दोनों एक ही आसन पर बैठे थे। उन्होंने काशिराज से कहा कि वे प्रजागण को कष्ट न देकर इस राज्य को भी अपने राज्य में मिला सकते हैं अथवा इसे सुबाहु को दान कर सकते हैं। काशिराज के पूछने पर उन्होंने अपनी माता के प्रसाद और साधुसंग के प्रभाव से ज्ञानराज्य की प्राप्ति की बात कही। सुबाहु बोले, "मेरा लक्ष्य पूरा हुआ, अब मैं चलता हूँ; मुझे राज्य की कोई जरूरत नहीं। मेरे भाई ने राज्य-बन्धन से मुक्ति पा ली है, मैं इसी से सन्तुष्ट हूँ।" काशिराज अवाक् रह गये। उन्होंने सुबाहु से और भी थोड़ी देर बैठने का अनुरोध करते हुए कहा, "तुम्हारे प्रसाद से तुम्हारा भाई मोह से मुक्त हो गया। मुझ पर भी कृपा करो। मैं किसी साधु के प्रसाद से क्यों वंचित होऊँ?" सुबाहु ने काशिराज को ज्ञान का उपदेश देने के बाद विदा माँगी। अलर्क ने अपने ज्येष्ठ भ्राता को प्रणाम करके उनकी कृपा के लिये उनके प्रति बारम्बार कृतज्ञता ज्ञापित की। काशिराज ने अपनी राजधानी में लौटकर नवीन ज्ञानालोक के साथ एक नवीन जीवन बिताना आरम्भ किया। अलर्क ने अपनी राजधानी में लौटकर अपने बड़े पुत्र को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं ज्ञान तथा योग की साधना हेतु वानप्रस्थ का जीवन अपना लिया। माता

(शेष अगले पृष्ठ पर – नीचे)

गिरीश चन्द्र घोष

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीरामकृष्ण कलकत्ता हाईकोर्ट के अटर्नी दीनानाथ बसु के मकान पर पधारे हुए थे।[१] यह घटना १८७६ ई. के पूर्वार्ध की है। केशवचन्द्र सेन और अन्य कुछ ब्राह्मभक्त उनके सम्मुख बैठे हुए थे। अपने वार्तालाप के बीच परमहंसदेव अर्थात् श्रीरामकृष्ण ने एक भजन गाया, जिसका भावार्थ था – "हे श्यामा, अपने हाथ का खड्ग फेंक दो और उसकी जगह बाँसुरी धारण कर लो।"... सहसा उन्हें गहरी समाधि लग गयी।[२] नेत्र स्थिर हो गये और मुख दिव्य आभा से आलोकित हो उठा। बाह्यज्ञान होने पर वे पुन: उपदेश देने लगे। बीच-बीच में वे भावसमाधि में डूब जाते। केशव तथा अन्य लोग उनके शब्दों को तन्मयता के साथ सुन रहे थे। तभी पड़ोस में रहनेवाले गिरीश चन्द्र घोष नामक एक सज्जन ने बैठक में प्रवेश किया। सन्ध्या हो गयी थी एवं परमहंसदेव के सामने चिराग जलाकर रख दिये गये थे। वे क्षीणकाय थे और तब लगभग चालीस वर्ष के थे। गिरीश ने सुना – वे बारम्बार पूछ रहे थे, "क्या सन्ध्या हो गयी? क्या सन्ध्या हो गयी?" गिरीश कौतूहलवश वहाँ यह देखने आये थे कि दक्षिणेश्वर के ये परमहंस क्या सचमुच वैसे ही हैं, जैसा कि ब्राह्म-भक्त दावा करते हैं? कुछ दिन पूर्व उन्होंने 'इंडियन मिरर' पत्रिका में परमहंस के बारे में पढ़ा था। जब गिरीश ने उस सामान्य से दिखनेवाले व्यक्ति को, जिसके सामने चिराग जल रहे थे, यह पूछते देखा कि, 'क्या सन्ध्या हो गयी?" तब उनका मन सन्देह और अवज्ञा से भर गया। – "यह ढोंग है ! सन्ध्या हो गयी है। उसके सामने चिराग जल रहे हैं। इसके बावजूद वे पूछ रहे हैं कि सन्ध्या हुई है या नहीं !" – ऐसा सोचते हुए गिरीश वहाँ से चले गये।

१. दीनानाथ के सबसे छोटे भाई पुलिस सुपरिंटेंडेंड कालीनाथ बसु केशवचन्द्र सेन के अनन्य भक्तों में से थे एवं उनके अनुरोध से उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपने घर आमंत्रित किया था। श्रीरामकृष्ण के शुभागमन से वहाँ उत्सव जैसा परिवेश बन गया था। वहाँ से वे हृदय के साथ केशव तथा अन्य ब्राह्मभक्तों के साथ दीनानाथ बसु के यहाँ पधारे थे।
२. स्वामी अखण्डानन्द, 'श्रीरामकृष्ण-स्मृति', उद्बोधन, वर्ष ३९, पृ. १४५

गिरीश का जन्म २८ फरवरी, १८४४ ई. को हुआ था। वे नीलकमल घोष की आठवीं सन्तान थे। उन्होंने ११ वर्ष की आयु में माँ और १४ वर्ष की आयु में पिता को खो दिया था। उनकी एकमात्र संरक्षक उनकी बड़ी बहन कृष्णकिशोरी थीं, जिनके लिए गिरीश को नियंत्रण में रखना असम्भव हो उठा। वे आवारागर्दी और जवानी की उच्छृंखला में अपने दिन बिताते। कृष्णकिशोरी ने उनकी उच्छृंखलता पर लगाम लगने की आशा में शीघ्र उनका विवाह कर दिया। पर उनकी आशा फलीभूत नहीं हुई। गिरीश की विद्रोही प्रकृति ने उन्हें सभी नैतिक मान्यताओं को तोड़ने की दिशा में प्रवृत्त किया। अपनी आजीविका चलाने के लिये वे एक व्यापारिक फर्म में छिटपुट काम करने लगे। पन्द्रह वर्षों तक विभिन्न पदों पर कार्य करने के बाद वे इंडियन लीग के ऑफिस में बड़े बाबू के पद पर नियुक्त हुए। पर शौकिया अभिनय, गीत तथा नाटक-लेखन और नाना प्रकार की विलासिताओं में ही उनका अधिकांश समय तथा शक्ति व्यय होता। अपने जीवन के चौथे दशक में वे एक उभरते हुए नाट्यकार तथा एक उच्च कोटि के अभिनेता के रूप में प्रसिद्ध होने लगे थे। उन्होंने अन्य अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों को भी प्रशिक्षित किया और उनके नेतृत्व में बंगाली रंगमंच को राष्ट्रीय स्तर की ख्याति मिली। सन् १८८३ में उनके प्रयास से स्टार थियेटर की स्थापना हुई। यद्यपि उन्हें बंगाल में आधुनिक नाटक के प्रणेता के रूप में सम्मानित किया गया, तथापि कलकत्ते का तत्कालीन पुरातनपन्थी हिन्दू समाज उच्छृंखल-स्वभाव गिरीश के अनैतिक दुराचारों की किम्वदन्तियों से दुखी था।

गिरीश में प्रतिभा के साथ ऐय्याशी की प्रवृत्ति भी थी। वे नास्तिक थे, तथापि कभी-कभी उनके हृदय के किसी कोने में धर्म-साधना की इच्छा भी जाग उठती। उनके भीतर की ये विरोधाभासी प्रवृत्तियाँ कभी-कभी विचित्र रूप से प्रकट हुआ करतीं। एक बार दुर्गापूजा के कुछ ही पहले उनके पड़ोसियों ने उनके साथ एक खेल किया। बहुत भोर में उन लोगों ने गिरीश के घर की चहारदीवारी के भीतर मिट्टी की एक दुर्गा-

पिछले पृष्ठ का शेषांश

मदालसा के उपदेश के प्रभाव से उनके सभी पुत्र परम तथा चरम कल्याण के अधिकारी हुए।

प्रत्येक युग में ही ऐसी योगसिद्ध महान् नारियों ने भारत-माता की गोद में आविर्भूत होकर भारतीय संस्कृति की परम्परा को सुरुचिपूर्ण तथा महिमामय बनाया है। ❑

(उद्बोधन, वैशाख १३६१ बंगाब्द, श्रीमाँ सारदा शताब्दी अंक से)

प्रतिमा रख दी और देखने लगे कि उन पर क्या प्रतिक्रिया होती है। गिरीश की प्रतिक्रिया बड़ी उग्र थी। उन्होंने क्रुद्ध होकर एक कुल्हाड़ी से उस मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उसे अपने घर के पिछवाड़े की बाड़ी में दफ्न कर दिया। उनके परिवार और पड़ोस के सभी लोग आशंकित हो उठे। अपने मित्र कालीनाथ बसु के आग्रह पर गिरीश ने कुछ दिनों ब्राह्मसमाज की सभाओं में भाग लिया, पर फिर बन्द कर दिया, कुछ दिनों तक वे माँ काली के उपासक बने रहे। इन्हीं दिनों एक दिन रंगमंच के अपने एक अभिनय के बाद उन्हें स्वप्न में माँ के दर्शन मिले, जिसमें माँ ने शाप देते हुए कहा कि उनकी कलाकार के रूप में प्रसिद्धि नष्ट हो जायगी।[३] इसके बाद वे नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने करीब अस्सी सामाजिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक नाटक लिखे। उनके बारे में ठीक ही कहा गया है कि उनका जीवन – झूठ तथा सच, मद्यपान तथा मद्यत्याग, कल्पना तथा अनुभूति, संशय तथा विश्वास, वासना के बहाव तथा उच्चतर जीवन से लगाव, दिल तथा दिमाग और नास्तिकता तथा आस्तिकता के बीच संघर्ष की एक लम्बी दास्तान है।[४]

गिरीश की प्रथम पत्नी का देहान्त १८७४ ई. में हुआ था। इंडियन लीग में नौकरी के समय सिमुलिया की सूरत कुमारी मित्र से उनका दुबारा विवाह हुआ। इसके बाद छह महीने भी न बीते थे कि गिरीश को घातक हैजा रोग हो गया। चिकित्सकों ने उनके बचने की सभी आशाएँ छोड़ दी। अर्ध-मूर्छावस्था में गिरीश को स्वप्न में लाल किनारी की साड़ी पहने एक देवी के दर्शन हुए।[५] देवी के आदेश पर उन्होंने जगन्नाथपुरी का महाप्रसाद ग्रहण किया और तब से उनकी दशा में सुधार दिखने लगा। क्रमश: उनके स्वास्थ्य में तो सुधार आ गया, पर बाद में होनेवाली पारिवारिक दुर्घटनाओं और कई लोगों की मृत्यु से उनके ऐय्याशीपूर्ण जीवन को बढ़ावा ही मिला। इसके साथ ही जन्म-मृत्यु के रहस्य को जानने की उनकी खोज भी चलती रही। उनका जीवन घोर संक्रान्ति के क्षणों से गुजरने लगा। वे ग्लानि और दु:ख से अभिभूत हो गये और अतिशय अशान्ति की ज्वाला में दग्ध होने लगे। उनके दिन इसी प्रकार बीत रहे थे कि सितम्बर १८८४ के प्रारम्भ में गिरीश ने श्रीरामकृष्ण को दूसरी बार बलराम बोस के घर पर देखा। बलराम ने अपने घर पर दक्षिणेश्वर के परमहंस के आगमन के उपलक्ष्य में गिरीश समेत अपने अनेक पड़ोसियों को उनके दर्शनार्थ आमंत्रित किया था। वहाँ एक उत्सव-जैसा परिवेश बन गया था। गिरीश वहाँ जाकर निराश ही हुए, क्योंकि सामान्यतया प्रचलित धारणा के अनुसार उन्होंने जैसे परमहंस की कल्पना कर रखी थी, श्रीरामकृष्ण उसके अनुरूप न थे। ये परमहंस तो आगन्तुकों के आने पर बार-बार भूमि पर सिर नवाकर उनका अभिवादन करते। विधु नाम की एक नाचने-गानेवाली बालिका उनके पास बैठी भजन गाने के लिए प्रतीक्षा कर रही थी। गिरीश बड़े गौर से परमहंस के व्यवहार को परख रहे थे, तभी उनके एक पूर्व-परिचित मित्र आये और व्यंग्य करते हुए उनके कानों में फुसफुसाकर कहने लगे, "लगता है विधु से परमहंस की पुरानी पहचान है। देखो न, तभी तो वह कितना हँस-हँसकर उसके साथ बातें कर रहा है।" इस प्रकार का आक्षेप गिरीश को पसन्द नहीं आया। इसी के बाद 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक शिशिर कुमार घोष आये। लगता है कि वे श्रीरामकृष्ण से अधिक प्रभावित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने गिरीश से कहा, "चलो चलें, बहुत देख लिया।" गिरीश की और भी थोड़ी देर रुकने की इच्छा थी, पर ऐसा कहने में उन्हें संकोच हुआ, अत: शिशिर बाबू के जोर देने पर वे उनके साथ चले गये।

इसके बाद गिरीशबाबू ने उन्हें स्टार में देखा। इस घटना का वर्णन करने से पूर्व हम गिरीशबाबू की मानसिक अवस्था को समझ लें, जो स्वयं उन्होंने एक लेख में अपने बारे में लिखा था ('जन्मभूमि', वर्ष २७, अंक ३) –

"भगवान् के अस्तित्व के विषय में मेरा संशय बना ही हुआ था। यदि भगवान है, तो फिर कौन-सा धर्म मानूँ? मैंने अनेक तर्क किये, अनेक विचार किये, परन्तु कोई उत्तर न मिला। इससे मैं व्याकुल हो उठा...। मैं सोचता, 'जब हवा, पानी, प्रकाश आदि भौतिक जीवन की सब आवश्यकताएँ – प्रकृति ही प्रचुरता से प्रदान कर रही है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक उनका भोग कर सके, तो क्या कारण है कि अनन्त जीवन के लिए आवश्यक धर्म उस प्रकार उपलब्ध नहीं है? वह सब मिथ्या है, क्योंकि न तो वह स्वाभाविक है और न मेरी पहुँच के अन्दर।...' इस प्रकार सुदीर्घ चौदह वर्ष मैंने अवसाद के कुहासे में काटे।

"उसके बाद दुर्दिन आये और मेरा चैन से रहना कठिन हो गया। भीतर अँधेरा, बाहर अँधेरा – सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा था। मैंने सोचा, 'क्या इस संकट से उबरने की कोई राह है?... मैंने आन्तरिकता के साथ स्वयं को ईश्वर (तारकनाथ शिव) की इच्छा में समर्पित कर दिया। मेरी प्रार्थना सफल हुई। संकट का यह जाल कटते फिर समय न लगा। मेरे अन्दर दृढ़ विश्वास जगा कि यह सच है कि भगवान है।...

३. श्रीशचन्द्र मतीलाल, 'भक्त गिरीशचन्द्र', उद्बोधन, वर्ष १५, अंक ४

४. देवेन्द्रनाथ बसु : 'गिरीशचन्द्र', कलकत्ता, १९३९, पृ.१३,१५

५. इस दैवीरूप के बारे में गिरीश ने बहुत बाद में अपने एक गुरुभाई को बताया था, "सोलह साल बाद (१८९१ ई. में) जब मैं श्रीमाँ (सारदा देवी) का दर्शन के लिए पहली बार जयरामवाटी गया था, तो यह देखकर आश्चर्य तथा आनन्द से भर उठा कि जिन देवी ने महा-प्रसाद देकर मेरे जीवन की रक्षा की थी, वे स्वयं श्रीमाँ ही थीं।"

परन्तु सभी कहते थे कि बिना गुरु के मुक्ति नहीं हो सकती और साथ ही कहते कि गुरु को ईश्वर-जैसा मानना होगा। मेरी बुद्धि यह मानने को तैयार न थी। यह विचार ही मुझे परेशान कर डालता, क्योंकि मुझे लगता कि किसी मनुष्य को ईश्वर समझने से बढ़कर दूसरी कोई ईश-निन्दा नहीं हो सकती। इसलिए मैं बिना किसी मानव-गुरु के अकेला ही लड़खड़ाते चलूँगा। मैं तारकनाथ की आराधना करूँगा।...

"इसी समय मेरा एक चित्रकार से परिचय हुआ। वह वैष्णव था। यह तो मैं नहीं जानता कि यह सच है या नहीं, परन्तु एक दिन वह मुझसे बोला, 'मैं रोज भगवान को भोग चढ़ाता हूँ और कुछ लक्षणों द्वारा मुझे यह विश्वास हो गया है कि वे उसे ग्रहण करते हैं। परन्तु ऐसा दुर्लभ अनुभव तभी मिल सकता है, जब किसी ने गुरु की कृपा प्राप्त की हो।' सुनकर मैं अधीर हो उठा। उससे विदा लेकर मैं अपने कमरे में आया और दरवाजा बन्द करके रो पड़ा।"*

इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक मार्गदर्शक के लिए उनका मन छटपटा रहा था।

यह सब सम्भवत: २१ सितम्बर, १८८४ को सुबह के समय हुआ। उसी दिन शाम को श्रीरामकृष्ण गिरीश बाबू रचित 'चैतन्य-लीला' नाटक देखने हेतु कलकत्ते के ६८ बीडन स्ट्रीट पर स्थित स्टार थियेटर में पधारे। उस नाटक ने बड़ी सफलता अर्जित की थी और कलकत्ते तथा आसपास के क्षेत्रों में धूम मचा रखी थी।[६] महेन्द्रनाथ गुप्त ('म'), महेन्द्रनाथ मुखर्जी, बलराम बोस एवं अन्य दो तीन भक्त श्रीरामकृष्ण के साथ थे। गिरीश बाबू थियेटर के परिसर में टहल रहे थे कि महेन्द्रनाथ मुखर्जी ने उनके पास पहुँचकर अनुरोध किया, "ठाकुर आपका नाटक देखने आये हैं। यदि आप उन्हें एक मुफ्त-पास दिलवा दें, तो अच्छा हो, नहीं तो हम लोग उनके लिए टिकट ले देंगे।" "उनको टिकट लेने की कोई जरूरत नहीं, पर अन्य सबको लेना होगा" – ऐसा कहते हुए गिरीश बाबू श्रीरामकृष्ण के स्वागत के लिए बढ़े। श्रीरामकृष्ण उस समय गाड़ी से उतर रहे थे। रात के साढ़े आठ बज रहे थे। गिरीश बाबू श्रीरामकृष्ण को नमस्कार करते, इससे पहले ही श्रीरामकृष्ण ने उनको झुककर नमस्कार किया। गिरीश बाबू ने नमस्कार का जवाब दिया, इस पर श्रीरामकृष्ण ने फिर झुककर नमस्कार किया। कुछ देर इसी प्रकार नमस्कार और प्रति-नमस्कार का नाटक चलता रहा। तब गिरीश ने सोचा कि ऐसे में तो सारी रात यही चलता रहेगा, इसलिए उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकृष्ण को नमस्कार करके उन्हें ऊपर एक बॉक्स में बिठा दिया और एक सेवक को पंखा झलने के लिए तैनात कर दिया। गिरीश बाबू अस्वस्थ अनुभव कर रहे थे, इसलिए इसके बाद वे घर चले गये। लगता है कि इस समय भी उन्हें श्रीरामकृष्ण में कोई विशेष असाधारणता नहीं दिखी। महेन्द्रनाथ गुप्त श्रीरामकृष्ण की बगल में बैठे थे और बाबूराम आदि अन्य लोग उनके पीछे थे। नाटक शुरू हुआ। नाटक के भक्तिभरे भाव ने श्रीरामकृष्ण को मतवाला कर दिया। अपने भाव के आवेग को भाँपते हुए उन्होंने बाबूराम को सावधान किया, "देख, यदि मुझे भाव-समाधि हो, तो तुम लोग शोरगुल मत मचाना, संसारी आदमी समझेंगे कि ढोंग है।" पर वे अपने को रोक नहीं सके। उनकी आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे, बीच-बीच में उन्हें दिव्य भावावेश हो आता और कभी-कभी भाव-समाधि लग जाती। नाटक समाप्त होने पर, श्रीरामकृष्ण कह उठे, "असल और नकल एक देखा।"[७]

श्रीरामकृष्ण ने अपनी पद्धति से, यदि पहले गिरीश का मूल्यांकन न भी किया हो, तो अब अवश्य कर लिया था। उन्होंने समझ लिया कि यद्यपि ऊपर से वह इतना कठोर दिखता है, पर भीतर से कोमल, विश्वासी और श्रद्धालु है। अपने दर्शनों को याद करते हुए एक बार उन्होंने कहा था –

"एक दिन जब मैं कालीमन्दिर में स्वयं में डूबा हुआ बैठा था तो मेरी दृष्टि के सम्मुख नाचती हुई एक मूर्ति आयी। मैंने उससे पूछा – तू कौन है? तो उसने कहा, 'मैं भैरव हूँ, यहाँ आया हूँ।' फिर मैंने जब उससे पूछा कि तेरे आने का उद्देश्य क्या है, तो उसने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हारा कार्य करूँगा।' जब गिरीश मेरे पास आया तो मैंने उसमें उसी भैरव को देखा।"[८]

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण द्वारा कही गई बातें बहुत महत्त्व की हैं। अपने इस महान् शिष्य के थियेटर से लौटने के बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "यदि दूसरों की बुद्धि अद्भुत हो, तो गिरीश की उससे ड्योढ़ी है, तात्पर्य उसके सामने सब बौने हैं।"[९] श्रीरामकृष्ण को यह भी कहते सुना गया था, "गिरीश का विश्वास पाँच चवन्नी पाँच आने है। कुछ दिनों बाद लोग उसकी अवस्था को देखकर आश्चर्यचकित हो जायँगे।"[१०] फिर उन्होंने यह भी कहा था, "गिरीश जैसे गृही भक्त अपने में एक अलग श्रेणी के हैं। वे योग और भोग दोनों चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण रावण जैसा है, जो स्वर्ग की अप्सराओं को भोगना चाहता था और साथ ही श्रीराम को भी पाना चाहता था।" इस प्रकार गिरीश की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को भाँपकर श्रीरामकृष्ण उनके जीवन को अनुकूल मोड़ देने के लिए उचित अवसर देखने लगे।

६. 'चैतन्यलीला' प्रथम बार २ अगस्त १८८४ को प्रस्तुत हुआ था।
* द्रष्टव्य – 'विवेक-ज्योति', वर्ष १९७८, अंक २, पृष्ठ ४४-४७

७. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ३४६; **८.** 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', द्वितीय भाग, संस्करण १९८९, नागपुर, पृ. २०२; **९.** 'प्रबुद्ध भारत' (अंग्रेजी), वर्ष १७, पृ. ५८; **१०.** 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग १, संस्करण २००८, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ४३६

दूसरी ओर गिरीश ने श्रीरामकृष्ण के बारे में चाहे जो भी धारणा क्यों न बना रखी हो, पर वे श्रीरामकृष्ण से प्रत्यक्ष भेंट को टाल नहीं सके। यह दोनों के बीच प्रथम प्रभावी भेंट थी और एक महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। इसने लड़ाकू स्वभाववाले गिरीश के जीवन में एक परिवर्तन ला दिया। (इससे पूर्व की तीन मुलाकातें संक्षिप्त थीं और अनायास हुई थीं।) यह घटना स्टार थियेटर में गिरीश बाबू की श्रीरामकृष्ण से भेंट के तीन दिन बाद २४ सितम्बर १८८४ की है। इस घटना का वर्णन करने के पूर्व हम गिरीश बाबू की मानसिक दशा का अन्य पहलू भी देख लें, जो उन्होंने स्वयं अपने एक बँगला लेख में बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया था –

"भयानक द्वन्द्व मानो मेरे हृदय पर आरे चला रहे थे। वर्णन की जगह उसकी कल्पना ही की जा सकती है। किसी व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे जबरन अकेले कमरे में ले जाकर बिना-भोजन-पानी के बन्द कर दिया जाय, तो उसकी जो मानसिक दशा होगी, यदि आप उसकी मानसिक अवस्था की कुछ कल्पना कर सकते हैं, तो समझ लीजिए कि मेरी हालत भी वैसी ही थी। कई बार आवेगों से मेरे प्राण रुक-से जाते। हताशा-भरे विचार मेरे हृदय को छलनी किये जा रहे थे। बीते दिनों की याद बारम्बार जागती और हृदय पर छाये अन्धकार का छोर नहीं दिखता। ऐसी ही दशा में मैंने श्रीरामकृष्ण को अपनी गली से होकर परमभक्त बलराम बाबू के घर जाते हुए देखा था। पहली बार मुझे उनके प्रति ऐसा खिंचाव महसूस हुआ, जिसे रोक पाना असम्भव था।"[११]

गिरीश बाबू उस समय चौराहे पर स्थित अपने एक मित्र के घर के बरामदे में बैठे थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को नारायण आदि भक्तों के साथ धीरे-धीरे अपनी ओर आते देखा। गिरीश -बाबू ने देखा कि नारायण ने उनकी ओर संकेत करके फुसफुसाते हुए श्रीरामकृष्ण से कुछ कहा और तब उन्होंने गिरीश को नमस्कार किया। गिरीश बाबू ने उनके नमस्कार का उत्तर दिया। श्रीरामकृष्ण उनके सामने से आगे की ओर पड़ोस के बलराम बोस के घर की तरफ बढ़ गये। गिरीश की समझ में नहीं आया कि कौन-सा एक अदृश्य आकर्षण उन्हें श्रीरामकृष्ण की ओर खींच रहा था। उनकी इच्छा हुई कि दौड़कर उनके पास पहुँच जायँ। उन्हीं के शब्दों में –

"कुछ ही दूर वे गये होंगे कि मेरी उनके साथ जाने की इच्छा होने लगी। मैं बेचैन हो उठा। वह कुछ ऐसा अलौकिक खिंचाव था कि मैं एकदम बेबस था। उसके अनोखेपन को शब्दों में बताना कठिन है।"[१२] तभी एक भक्त ने आकर उन्हें यह का सन्देश सुनाया, "श्रीरामकृष्ण आपको याद कर रहे हैं।" गिरीश बाबू तत्काल उसके साथ चल पड़े।

गिरीश के दम्भ और मिथ्याभिमान ने उन्हें अब तक एक सन्त के विषय में अपनी पूर्व-कल्पित मान्यताओं के उस पार देखने में बाधा दी थी। तथापि दक्षिणेश्वर के सन्त की सतत विनम्रता ने उन्हें अन्तर्मुखी बनने को बाध्य किया। थियेटर में मिलने पर सन्त ने ही उन्हें पहले नमस्कार किया था। आज भी सन्त ने ही पहले उनका स्वागत किया। सन्त की विनम्रता मानो गिरीश के अन्तस्तल की कठोर परतों को चूर-चूर करती हुई उनके भीतर गहराई तक पैठ गयी।

श्रीरामकृष्ण बलराम बाबू के घर की बैठक में प्रविष्ट हुए, जहाँ बलराम बाबू एक तख्त पर लेटे हुए थे। सम्भवत: वे अस्वस्थ थे। जैसे ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण को देखा, तो उठ खड़े हुए और श्रद्धापूर्वक उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। बलराम बाबू के साथ कुछ वार्तालाप होने के बाद श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "अच्छा, मैं ठीक हूँ, मैं ठीक हूँ।" ऐसा कहते-कहते उनमें एक परिवर्तन आ गया, जो गिरीश बाबू को बड़ा आश्चर्यजनक लगा। बाद में उन्हें पता चला कि श्रीरामकृष्ण को भाव-समाधि लग गयी थी और उससे उनका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया था। इसके थोड़ी देर बाद ही श्रीरामकृष्ण कह उठे, "यह ढोंग नहीं है ! यह ढोंग नहीं है !" कुछ समय तक इस अवस्था में रहने के बाद उनकी बाह्य चेतना लौट आयी और उन्होंने अपना आसन ग्रहण किया।

यद्यपि गिरीश का दम्भ किसी देहधारी व्यक्ति को गुरु के उच्च स्थान पर स्वीकार नहीं कर सकता था, तथापि हृदय के गहनतम प्रदेश में वे गुरु को पाने के लिए आकुल थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "महाशय, गुरु कौन होता है?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "जानते हो, गुरु कौन होता है? वह (मानो विवाह के लिये जोड़ी मिलानेवाला) मध्यस्थ[१३] है। वह भक्त का भगवान से मिलन करवा देता है।" कुछ समय बाद वे फिर कहने लगे, "तुम्हारे गुरु का चुनाव तो हो चुका है।" गिरीश का हृदय अकथनीय आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। बिना किसी दुविधा के उन्होंने श्रीरामकृष्ण की बातों को स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्ण के इस कथन से कि उनके गुरु का चुनाव हो गया है, गिरीश को बड़ी तसल्ली हुई।

इसके बाद गिरीश बाबू ने पूछा, "अच्छा मंत्र क्या है?" श्रीरामकृष्ण बोले, "भगवान का नाम।" इसे समझाने के लिए उन्होंने एक कथा सुनायी। प्रसिद्ध वैष्णव सन्त रामानन्दजी प्रतिदिन सुबह भोर में स्नान के लिए गंगाजी जाते। एक दिन कबीर नाम का एक जुलाहा घाट की सीढ़ी पर लेटा था।

११. 'परमहंसदेवेर शिष्य-स्नेह', तत्त्वमंजरी, वर्ष ९, अंक ३-४। यह लेख बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण जयन्ती समारोह के उपलक्ष में गिरीश बाबू द्वारा पढ़े एक भाषण का अनुलेखन था।

१२. 'विवेक-ज्योति', वर्ष १९७८, अंक २, पृष्ठ ४७

१३. जोड़ी मिलानेवाला – वह मध्यस्थ, जो विवाह तय कराता है और इस प्रकार वर-वधू के मिलन का संयोग जुटाता है।

घाट से उतरते समय रामानन्दजी का पैर कबीर से छू गया और उन्होंने पवित्र 'रामनाम' का उच्चारण किया। कबीर ने उसी को अपना मंत्र स्वीकार कर लिया और वही जपते-जपते बाद में भगवान को पा लिया।

श्रीरामकृष्ण की संवेदनशीलता और गिरीश तथा उनकी समस्याओं की गहराई से समझ ने गिरीश को प्रभावित कर दिया। सन्त की उनके प्रति सहानुभूति तथा स्नेह बिलकुल स्पष्ट था। गिरीश श्रीरामकृष्ण के प्रति अधिकाधिक खिंचाव का अनुभव करने लगे।

वार्तालाप चल रहा था। श्रीरामकृष्ण की बातें करने के ढंग से गिरीश को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे उनके पुराने परिचित हों। बातचीत के दौरान थियेटर का प्रसंग उठा। श्रीरामकृष्ण बोले, "तुम्हारा नाटक मुझे बहुत पसन्द आया। तुम पर ज्ञान-सूर्य उदय होने लगा है। तुम्हारे हृदय के सारे कलंक धुल जाएँगे और शीघ्र ही भक्ति का उदय होगा, जिससे तुम्हारा जीवन परम आनन्द और शान्ति से मधुर हो उठेगा।"[१४] परन्तु गिरीश इस प्रकार की प्रशंसा को स्वीकार नहीं कर सके, क्योंकि वे समझते थे कि वे उसके अधिकारी नहीं हैं। उन्होंने कहा कि नाटक तो उन्होंने पैसा कमाने की दृष्टि से लिखे हैं। श्रीरामकृष्ण ने उनका उत्तर अनसुना कर दिया और पूछा, "क्या तुम मुझे अपने थियेटर में ले जाकर अपना दूसरा कोई नाटक दिखा सकते हो?"

"जी हाँ, आप जिस दिन भी कहें।"

"मुझसे टिकट के कुछ पैसे अवश्य लेना।"

"ठीक है, आप आठ आने दे दीजियेगा।"

"वह तो बालकनी की उस रद्दी सीट की टिकट है?"

"ओह, नहीं, आपको वहाँ नहीं बैठना होगा। आप पिछली बार जहाँ बैठे थे, वहीं बैठियेगा।"

"तब तो तुम्हें एक रुपया लेना होगा।"

"आपकी जो इच्छा !"

बलराम बाबू ने कुछ मिठाइयाँ लाकर श्रीरामकृष्ण के सामने रखीं। उन्होंने उसमें से एक छोटा-सा टुकड़ा तोड़कर खाया। बची हुई मिठाई को वहाँ उपस्थित लोगों ने प्रसाद के रूप में ग्रहण किया। गिरीश की इच्छा हुई कि वे भी थोड़ा-सा ग्रहण करें, परन्तु वे संकोचवश रुक गये कि कहीं दूसरे लोग इसकी चर्चा न करने लग जायँ।

इसके बाद ही हरिपद नामक एक युवक भक्त और गिरीश बाबू ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करके विदा ली। मार्ग में हरिपद ने पूछा, "इनके विषय में आप क्या सोचते हैं?" गिरीश ने उत्तर दिया, "निस्सन्देह, ये एक महान् भक्त हैं।" गिरीश प्रसन्न थे कि उन्हें अब गुरु खोजने के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

इस भेंट के बाद से गिरीश बाबू बड़ी गम्भीरता से सोचने लगे – "आखिर यह व्यक्ति कौन है, जो इतनी आत्मीयता के साथ मुझसे बातें करता है कि मुझे अपना-जैसा लगने लगता है?" उनके भीतर कुछ हो गया था, जिसे व्यक्त कर पाना उनके लिए कठिन था। उस दिन से जीवन का उनके लिए एक दूसरा ही अर्थ हो गया। इस प्रकार की और कई भेंटें थोड़े-थोड़े अन्तर से हुईं। वे ठाकुर की ओर अधिकाधिक आकर्षण का अनुभव कर रहे थे, तथापि कभी-कभी वे उनके प्रति अपमानजनक शब्दों का भी उपयोग करते, उनके सामने ही मदिरा पीते और ऐसी हरकतें करते कि अन्य भक्त अचम्भित रह जाते। एक बार गिरीश बाबू ने श्रीरामकृष्ण से कहा, "ठाकुर, केवल उपदेश से काम नहीं चलेगा। मैं स्वयं बहुत-से उपदेश जानता हूँ। उनसे मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं कुछ ठोस चाहता हूँ। ऐसा कुछ कीजिए, जिससे मेरे जीवन में बदलाव आ जाय।"[१५] गिरीश बाबू के ऐसा कहने के पहले से ही श्रीरामकृष्ण यह सब जानते थे। वे तो गिरीश बाबू के प्रति मातृवत् स्नेह रखते। धीरे-धीरे मात्र उनके उपदेशों ने ही नहीं, अपितु उनके गहरे प्रेम के प्रभाव ने एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया, उसने गिरीश की उद्दामता को नियंत्रित करके धीरे-धीरे उनमें एक अद्भुत परिवर्तन ला दिया। इस परिवर्तन को गिरीश ने भी शीघ्र कुछ-कुछ अनुभव किया। उन्होंने स्वयं भी इस विषय में लिखा है –

"मेरा हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो गया। मुझे लग रहा था मानो मेरा नया जन्म हुआ हो। मैं अब पूरी तरह बदला हुआ मनुष्य था। मेरे मन में अब किसी प्रकार का संशय या द्वन्द्व न था। 'भगवान हैं। भगवान मेरे आश्रयदाता हैं। मैंने इन देवतुल्य महापुरुष की शरण पायी है' – इस तरह के विचार रात-दिन मेरे मन में घूमते रहते। सोते-जागते यही भाव बना रहता – 'मुझे क्या भय है? मैंने इन्हें पा लिया है, जो मेरे अपने हैं। सबसे बड़ा भय – मृत्यु-भय चला गया है, इसलिए अब यह संसार मुझे बाँधकर नहीं रख सकता'।"[१६]

ठाकुर के दिव्य-अहेतुक प्रेम ने धीरे-धीरे गिरीश के हृदय पर पूरा अधिकार जमा लिया। गिरीश बाबू अपने परवर्ती दिनों में कहा करते –

"श्रीरामकृष्ण मेरे हृदय पर पूरी तरह छा गये हैं। यह अधिकार उन्होंने अपने प्रेम द्वारा पाया है। इस अलौकिक प्रेम के अनुभव करने से काम-क्रोध आदि सारी दुर्बलताएँ नष्ट हो जाती हैं – किसी अन्य साधना की जरूरत नहीं।"

१४. अविनाश चन्द्र गंगोपाध्याय : 'गिरीशचन्द्र' (बँगला), पृ. ३४२

१५. रामचन्द्र दत्त : 'श्री श्रीपरमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला), सप्तम संस्करण, पृ. १४४; **१६.** 'विवेक-ज्योति', वही, पृ. ५६

गिरीश के जीवन पर श्रीरामकृष्ण का प्रभाव ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ हो रहा था, त्यों-त्यों उनके मन में यह विचार उठने लगा थी कि क्यों न अपना थियेटरवाला काम छोड़ दें! परन्तु श्रीरामकृष्ण बोले, "अभी जो कर रहे हो, वही करते जाओ। इससे बहुत काम होगा। इससे लोगों को शिक्षा मिलेगी।" श्रीरामकृष्ण का प्रभाव गिरीश बाबू के भीतर गहराई में प्रविष्ट हो गया और उनकी गहन धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं के रूप में उनके 'बिल्वमंगल', 'काला पहाड़', 'रूप-सनातन', 'पूर्णचन्द्र', 'नसीराम' आदि नाटकों के माध्यम से प्रकट होने लगा। हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त ने बिल्कुल सही लिखा है, "इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गिरीश के जीवन और उनके द्वारा बँगला नाटक के इतिहास में जो मोड़ आया, वह पूर्व तथा वर्तमान के बँगला नाट्यकारों में महानतम – गिरीशचन्द्र घोष के हृदय तथा मस्तिष्क पर श्रीरामकृष्ण के पुनीत प्रभाव के फलस्वरूप आया था।"[१७] श्रीरामकृष्ण आज भी कलकत्ते के समस्त सार्वजनिक थियेटरों के संरक्षक सन्त बने हुए हैं।

गिरीश के भाव को पूरी तौर समझ लेने के कारण एक दिन श्रीरामकृष्ण उनका सारा भार लेने को तैयार हो गये और उन्होंने उनसे बकलमा (वकालतनामा या मुख्तारनामा) दे देने को कहा। गिरीश ने प्रसन्नता से इसे स्वीकार कर लिया। "परन्तु नियम के बन्धन को असह्य समझकर उसके बदले में उन्होंने स्वेच्छापूर्वक उससे भी कहीं सौगुने अधिक प्रेम के बन्धन को अपने गले में डाल लिया है, इस बात का तब उन्हें बोध नहीं हुआ।... तो भी गिरीश बाबू अब निश्चिन्त हो चुके थे और खाते-पीते, उठते-बैठते यही एक बात उनके मन में उदित हो रही थी कि 'श्रीरामकृष्णदेव ने मेरा सारा भार ग्रहण कर लिया है'। यही सतत चिन्तन उनके समस्त कार्य तथा मानसिक भावों पर अपनी छाप लगाकर आधिपत्य जमाता हुआ उनमें सर्वांगीण परिवर्तन ला रहा था।"[१८]

स्वयं के प्रति ईमानदार एवं निष्ठावान होने के कारण और जिसे प्रिय मान लिया उसके प्रति पूरी तरह से समर्पित होने के कारण गिरीश बाबू ने ठाकुर के प्रीतिपूर्ण व्यवहार को स्वीकार किया। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों ठाकुर के प्रेम का बन्धन गिरीश बाबू को अधिकाधिक आबद्ध करता गया। अन्त में उन्होंने अपने जीवन को पूर्णत: ईश्वर की इच्छा पर सौंप दिया और उनके मुख से प्राय: ही निकलता – "उनकी जो इच्छा!" स्वामी विवेकानन्द ने सच ही कहा है,

१७. हेमेन्द्रनाथ दासगुप्ता : 'The Influence of Ramakrishna Paramahansa on Girish Chandra's Drama,' प्रबुद्ध भारत, १९३३, पृ. १९६; **१८.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग १, सं. २००८, पृ. ३६५

"यथार्थ आत्मसमर्पण की और प्रभु के सेवक होने की सच्ची भावना मुझे केवल गिरीशबाबू में ही दिखती है। वे इस प्रकार के आत्मत्याग के लिए सदैव तत्पर रहते थे, इसीलिए क्या श्रीरामकृष्ण ने उनका सारा भार अपने ऊपर नहीं ले लिया? उनमें प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की कितनी अनन्य भावना है! मुझे तो उनके समान दूसरा कोई नहीं दिखा। उन्हीं से मैंने आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ा है।"[१९]

श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के बारे में जो भविष्यवाणी की थी, "तुम दिन-पर-दिन शुद्ध होते जाओगे, दिन-पर-दिन तुम्हारी खूब उन्नति होगी, लोग देखकर दंग रह जायेंगे"[२०] – वह अक्षरश: सत्य सिद्ध हुई थी। गिरीश पूरी तौर से ठाकुरमय हो गये थे। वे ठाकुर में ही जीते, चलते-फिरते और उन्हीं में रमे रहते। अत: जब वे कहते, "श्रीरामकृष्ण को मानना, उनसे प्रेम करना कठिन नहीं है, परन्तु उनको भूल पाना ही कठिन है,"[२१] तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। कलकत्ते के लोग गिरीश बाबू को मात्र एक कवि, एक साहित्यकार, एक अभिनेता, एक नाट्यकार, एक देशभक्त या सर्वोपरि – एक 'पतित' व्यक्ति मानते, परन्तु उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आनेवाले लोग एक पतित व्यक्ति का एक सन्त में रूपान्तरण होते देखकर विस्मय-विभोर हो जाते। यह परिवर्तन ऐसा विलक्षण था कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने सन्देश के प्रचार के लिए एक विशिष्ट प्रवक्ता के रूप में चुन लिया था। ८ जनवरी, १९१२ ई. को उनके इस प्रतिभामय बहुमुखी जीवन का तिरोभाव हो गया। ❑❑❑

१९. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, प्रथम सं. पृ. २४५

२०. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग २, सं. १९९९, पृ. ८८३। स्वामी प्रेमानन्दजी ने गिरीश के रूपान्तरण पर आनन्द व्यक्त करते हुए अपने १९१० ई. के एक पत्र में उसे इस प्रकार चित्रित किया – "गिरीश बाबू बनारस में है। उनके स्वास्थ्य में काफी सुधार हो गया है।... अहा! उनके स्वभाव में हम लोग कितना अद्भुत परिवर्तन देख रहे हैं। ठाकुर ने भविष्यवाणी की थी, 'लोग तुम्हें देखकर चकित रह जायेंगे'। यह सही अर्थों में पूरी उतरी है।... उनके समान सन्त स्वभाववाले साधु बिरले ही नजर आते हैं।"

२१. रामकृष्ण मिशन की १७ वीं बैठक की रीपोर्ट, जो १५ अगस्त १८९७ को सम्पन्न हुई। १५ जुलाई, १८९७ ई. को हुई १४ वीं बैठक में गिरीश ने इसी भाव से कहा था, "मैं नहीं जानता की ईश्वर के बारे में शास्त्र क्या कहते हैं, परन्तु मेरे अन्दर यह आकांक्षा थी कि वह जो ईश्वर है, मुझे उसी प्रकार प्यार करे, जैसा मैं स्वयं को करता हूँ। वे (श्रीरामकृष्ण) मुझे उसी प्रकार प्यार करते थे, जैसा मैं स्वयं को करता हूँ। उन्हें (श्रीरामकृष्ण) छोड़ मेरा कोई और सुहृद न था। उन्होंने मेरे दुर्गुणों को सद्गुणों में परिवर्तित कर दिया। मैं स्वयं को जितना प्यार करता, वे मुझे उससे भी अधिक प्यार करते।"

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१५)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

बेलूड़ मठ में स्वामी प्रेमानन्द

प्रथम परिच्छेद (श्रीरामकृष्ण और कट्टरता)

भगवान श्रीरामकृष्ण के लीला-सहचर, मठ तथा मिशन के प्रमुख तथा सहकारी अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी प्रेमानन्दजी भक्तों के आन्तरिक आह्वान पर कामाख्या होते हुए मैमनसिंह, ढाका, नारायणगंज आदि अंचल में प्रचार करने गये थे। उनके साथ स्वामी शंकरानन्द, स्वामी अम्बिकानन्द, स्वामी हरिहरानन्द आदि मठ के कई साधु-ब्रह्मचारी भी गये थे। शुक्रवार २५ फरवरी (१९१६ ई.) को प्रात:काल वे लोग कलकत्ते और अगले दिन बेलूड़ मठ लौटे। साथ में ढाका के एक भक्त भी आये हैं।

रविवार, २७ फरवरी, १९१६ ई.। स्वामी प्रेमानन्द मठ के पूर्व की ओर के बरामदे में बड़े बेंच पर आसीन हैं। ब्रह्मचैतन्य तथा कुछ अन्य साधु-ब्रह्मचारी एक अन्य बेंच पर बैठे हैं। ढाका से आये नवागत भक्त भी हैं।

एक साधु – महाराज, आप तो केवल ठाकुर की ही बातें कहते हैं, इस कारण कोई-कोई कहता है कि आप कट्टरता का प्रचार कर रहे हैं।

बाबूराम महाराज – (ढाका के भक्त के प्रति) क्यों जी, क्या मैं कट्टरता का प्रचार करता हूँ? श्रीरामकृष्ण हिन्दू-मुसलमान-ईसाई – समस्त भावों की सघन मूर्ति हैं। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, साकार-निराकार, शाक्त-वैष्णव, आदि जो जिन-जिन धर्मों के जिन-जिन भावों का साधक है, उसे ठाकुर के जीवन में उसी धर्म के उसी भाव का आदर्श प्राप्त होगा। कर्ताभजा-साधक वैष्णवचरण, ब्राह्म केशवचन्द्र, वैष्णव बलराम, कट्टर हिन्दू कृष्णकिशोर, ईसाई कुक साहब आदि लोग विभिन्न तथा विपरीत मतों के साधक थे, तथापि इनमें से प्रत्येक ठाकुर के अन्दर अपना-अपना भाव देख पाते थे। नदियाँ जैसे विभिन्न दिशाओं से आकर महासमुद्र में मिल जाती हैं, वैसे ही ये लोग भी मंत्रमुग्ध के समान महासागर – जैसे ठाकुर के चरणों में आकर मिल जाते थे।

"हिन्दू, मुसलमान, ईसाई – सभी धर्मों तथा सारे भावों की जो सघन मूर्ति हैं, ऐसे श्रीरामकृष्ण को मानने और उनके बारे में बोलने से क्या कट्टरता का प्रचार होता है? मैं कट्टरता का प्रचार करता हूँ! (एक साधु के प्रति) मूर्ख हैं ये लोग! उनका भाव यदि कोई ठीक-ठीक ले सके, तो क्या वह कट्टरता दिखा सकता है? देखते नहीं, चाहे हिन्दू हो, या ईसाई, या मुसलमान – सभी ठाकुर की पूजा कर रहे हैं।

कट्टर किसको कहते हैं? जो व्यक्ति केवल अपने ही धर्ममत को सत्य मानकर पकड़े रहता है और दूसरों के मत को असत्य मानता है या द्वेष रखता है, उसी को तो कट्टर कहते हैं न! वे लोग क्या कभी सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं? सावधान, तुम लोग कभी कट्टर मत होना, नहीं तो ठाकुर का भाव नहीं रहेगा।

"एक दिन गिरीश बाबू श्रीरामकृष्ण से बोले – 'कर्ताभजा लोगों के विरुद्ध एक पुस्तक लिखूँगा।' इस पर उन्होंने गम्भीर होकर कहा था – 'वह भी एक पथ है, उस पथ के द्वारा भी कोई-कोई धर्मपथ पर अग्रसर हुआ है।' वे किसी की भी, एक कीड़े तक की भी निन्दा करने से मना करते थे।

"सभी अवतार एक-एक मत जगत् में प्रचार कर गये हैं। सबने अपने मत को श्रेष्ठ बताया है, किसी-किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि उनके मत का आश्रय लिये बिना कुछ न होगा, पर हमारे ठाकुर कहते थे – जितने मत उतने पथ।

"प्रत्येक अवतार एक-एक भाव के आदर्श हैं। ऐसी बात नहीं कि उनके अन्दर अन्य भाव न हों। सभी भाव थे, तो भी वे जगत् को एक-एक भाव दिखा गये – जैसे बुद्धदेव निष्काम कर्म, शंकराचार्य ज्ञान और चैतन्यदेव भक्ति। कालक्रम से विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त भारत के लोगों ने सोचा कि शायद ये एक-दूसरे के विरोधी हैं। सर्वधर्म-समन्वयकारी श्रीरामकृष्ण के आगमन से यह विरोध दूर हो चुका है। इस युग में पृथ्वी पर इसी प्रकार के एक व्यक्ति के अवतरण की जरूरत थी। तो उनका प्रचार करना क्या कट्टरता का प्रचार है? उन्होंने स्वयं भी कभी अपने किसी विशेष मत का प्रचार नहीं किया। वे उन्हीं से बोलते, जो प्रेमपूर्वक सुनते। केशव बाबू के संवादपत्र में उनकी बातें छपने पर उन्होंने उन्हें अपने पास आने से मना किया था। वे कहते – द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत – भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सभी सत्य हैं।

"वे कहा करते कि जितने मत हैं, उतने पथ हैं, क्योंकि भगवान अनन्त हैं। हाथी का पाँव छूने के बाद एक अन्धे ने कहा – हाथी खम्भे के समान है। दूसरे ने कान का स्पर्श करके कहा – सूप के समान है। एक अन्य ने पेट पर हाथ फेरकर कहा – हाथी पानी के बड़े मटके के समान है।

''प्रत्येक का वह मत सही भी था और गलत भी । किसी ने भी हाथी को पूरा नहीं देखा था । इसीलिए तो कट्टरता, झगड़ा और विवाद की नौबत आती है । श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वयं के जीवन में दिखाया कि चाहे जिस पथ का भी आश्रय लो, उसी पथ पर आगे बढ़ने से सत्य की प्राप्ति हो सकती है । उन्होंने यह भी कहा कि झगड़ा-विवाद करने की जरूरत नहीं, सभी मत ठीक हैं । जिसके पेट में जो सहे । केवल आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, मार्ग में बैठकर झगड़ा मत करो !

''जीवन का उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है । उनकी प्राप्ति न हो, तो केवल दु:ख-कष्ट ही भोगना पड़ता है । अत: चाहे जैसे भी हो, उन्हें पाना ही होगा । मत और पथ को लेकर इतना झगड़ा-विवाद करने की क्या जरूरत? आम खाने आये हो, तो आम खाकर चले जाओ । पत्ते गिनते-गिनते ही पूरी शक्ति का अपव्यय हो जाता है । केवल तर्क और विचार ! – वे साकार हैं या निराकार, पुनर्जन्म है या नहीं ! बनारस के बारे में यदि जानना चाहो, तो जो लोग बनारस गये हैं, उनके पास जाकर वहाँ के रास्ते-घाटों के विषय में जान लेना होगा और उसके बाद वहाँ स्वयं ही जाकर देख आना होगा । घर में बैठे-बैठे हजारों बार – बनारस ऐसा है, बनारस ऐसा है, कहने पर भी बनारस की धारणा नहीं होगी । पुनर्जन्म हो या न हो, इसकी मुझे क्या परवाह ! मुझे तो इसी जन्म में ईश्वर को पा लेना होगा । नहीं पाने से काम नहीं चलेगा ।

द्वितीय परिच्छेद (श्रीरामकृष्ण का अनैश्वर्य भाव)

''इस बार अनैश्वर्य-भाव है । सभी अवतारों में कुछ-न-कुछ चमत्कार अवश्य दीख पड़ता है । कालीय-दमन, गोवर्धन-धारण, पाँच रोटियों से पाँच हजार लोगों को खिलाना, नदी पर आदेश चलाना, आकाश-मार्ग से चलना आदि ही देखो न ! परन्तु इस बार मुझे इसका बिल्कुल ही अभाव दिखता है । इस बार का मजा ही अनैश्वर्य है । फिर देखो, सभी अवतार 'रूप की छटा से जगत् को आलोकित करते हैं' । परन्तु इस बार दैहिक रूप का भी अभाव है । इसीलिए गिरीश बाबू ने पूछा था – इस बार रूप क्यों नहीं है, जी?

''ठाकुर की साधनावस्था में जब उनके शरीर से ज्योति निकलने लगी, तो उन्होंने माँ से कहा था – 'दैहिक रूप की जरूरत नहीं है माँ, आध्यात्मिक रूप दे ।'

''फिर सभी अवतार शास्त्रवेत्ता विद्वान हैं । परन्तु हमारा कार्य अन्य प्रकार के लोगों को लेकर है । चैतन्यदेव को ही देखो न ! वे दिग्विजयी पण्डित को हराकर अपने काल के सर्वश्रेष्ठ पण्डित के रूप में विख्यात हुए थे । शंकराचार्य का तो कहना ही क्या? बुद्धदेव नाना शास्त्रों को पढ़कर मुक्ति के विषय में हताश हुए थे और सर्व उपनिषदों के दोहनकर्ता श्रीकृष्ण निश्चित रूप से विद्वान् थे, इसमें सन्देह ही क्या है? परन्तु हमारे ठाकुर किसी प्रकार लिख-पढ़ भर पाते थे । यह एक बड़ी अद्‌भुत बात है ! परन्तु पण्डित लोग उनके साथ विचार करने आकर उनके सामने केंचुए के समान हो जाते थे । जानते हो क्यों? अनुभूति और तर्क के द्वारा समझने में बहुत अन्तर है । नक्सा देखकर बनारस की बात कोई कितना समझ सकता है? जो बनारस देख आया है, उसी की बात सब सुनते हैं । वे सभी स्तरों की बात जानते थे ।

''ठाकुर अपढ़ जैसे दिखते थे, परन्तु कितने ही प्रकार की विद्याएँ जानते थे । पक्षियों की भाषा से लेकर सबके स्वभाव-चरित्र को जान लेना और वेद-पुराण-तंत्र – सब मानो उनकी मुट्ठी में थे । वे कहते, 'मनुष्य का नेत्र-मुख देखकर ही समझ जाता हूँ कि भीतर क्या है ।' कोई जब पहली बार ठाकुर के पास आता, तो वे उसके सब अंग-प्रत्यंगों की जाँच कर लेते थे । मेरी भी परीक्षा ली थी । मेरे हाथ की कुहनी तक अपने हाथ में लेकर, भारी है या हल्का – वजन देखकर बोले – 'लक्षण अच्छा है ।' उन्होंने यह सब कहाँ से सीखा !

''शास्त्र में है 'ऊर्ध्व-सौरतम्' । ठाकुर को देखे बिना इस बात पर कभी विश्वास नहीं होता । पूरे देह की हर नाड़ी, यहाँ तक की हर पेशी पर उनका क्या ही अद्‌भुत नियंत्रण था । जिस गले के घाव से असीम पीड़ा होती थी, उसी घाव को धुलवाते समय वे थोड़ी प्रतीक्षा करने को कहने के बाद तब कहते – 'अब धो ।' तब उन्हें कोई पीड़ा नहीं रह जाती थी । इसका कारण क्या है, जानते हो – योगीगण सम्पूर्ण देह पर आधिपत्य कर सकते हैं; यहाँ तक कि वे अपने हृत्पिण्ड की गति को भी बन्द कर सकते हैं, जब चाहें देह के किसी भी अंश से प्राण को खींच ले सकते हैं । तब शरीर का वह अंश जड़ के समान हो जाता है । तब उसमें किसी प्रकार का संवेदन नहीं रह जाता । छूरी लगाने से भी उसमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती । समझे? यह सब कहानी नहीं है, हमने अपनी आँखों से देखा है । श्रीकृष्ण अपनी कामदेह से प्राण को उठाकर गोपियों के साथ विहार किया करते थे । 'ऊर्ध्व-सौरतम्' – इस बात को अब समझने का प्रयास करो ।

''परन्तु जानते हो अवतारी पुरुषों के आत्मा में स्थित रहने पर भी, उनमें थोड़ा-बहुत देहबोध तो रहता ही है । परन्तु वे जब चाहें, उसे भी दूर कर सकते हैं । थोड़ा-सा तो वह रहना ही चाहिए, नहीं तो शरीर नहीं टिकता । जैसा कि ठाकुर कहा करते थे – नारियल के खोल के भीतर, गूदा सूखकर उससे अलग हो जाने पर भी कहीं-न-कहीं तो वह खोल से लगा ही रहता है ।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ को जैसा मैंने देखा

स्वामी अव्यक्तानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उन दिनों मैं कलकत्ते के बंगवासी कॉलेज में पढ़ता था। मेरी आयु १७ वर्ष थी और मैं छात्रावास में रहता था। कॉलेज के अन्य छात्रों के साथ ही मैं भी नियमित रूप से बेलूड़ मठ में आना-जाना करता। अत: मैंने माँ के बारे में सुन रखा था। तब वे जयरामबाटी में थीं। एक दिन उनके दर्शनार्थ जयरामबाटी जा पहुँचा। उन दिनों जयरामबाटी जाना बड़ा कठिन था। दो-तीन दिन लग जाते थे। जयरामबाटी पहुँचकर माँ को देखकर मुझे लगा – वे स्नेह तथा सेवा की सजीव मूर्ति हैं। यह भी लगा कि माँ शारीरिक श्रम को विशेष महत्त्व देती हैं। उनका यह वैशिष्ट्य उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक बना रहा। मेरी चाय पीने की आदत के कारण माँ घर-घर जाकर दूध जुटातीं। माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। इसके बावजूद वे मेरे लिये यह काम करतीं। केवल चाय के लिए दूध ही नहीं, वे लोगों के यहाँ जाकर स्वयं पता करतीं कि किसी के घर कोई शाक-सब्जी मिल सकेगी क्या! मिल जाने पर मेरे लिए खरीद लातीं। उन दिनों जयरामबाटी में चाय पीनेवाला कोई नहीं था, नित्य शाक-सब्जी मिलना भी बड़ा कठिन था।

माँ के इस रूप ने मुझे बड़ी गहराई तक प्रभावित किया। छात्रावास में लौट आने के बाद छात्रावास का एक लड़का बहुत बीमार पड़ा। मैंने स्वत: प्रेरणा से उसकी सेवा का भार अपने कन्धों पर ले लिया। उस दिन उसे बहुत बुखार था, शरीर में काफी दर्द था। मैं उसके हाथ-पाँव दबा रहा था, सिर पर पानी की पट्टियाँ रख रहा था। इस बुखार के दौरान ही मित्र ने मुझसे कहा, "तुम ठीक मेरी माँ के समान मेरी सेवा कर रहे हो।" उस समय मुझे माँ की बात याद आयी। इस सेवा का भाव मैं उन्हें देखने के बाद ही सीखकर लौटा था। उनकी सेवा देखकर मुझे लगा था – यह कोई साधारण काम नहीं है, यह एक पूर्णत: आध्यात्मिक कार्य था।

थोड़े समय के लिये ही सही, पर उस बार जयरामबाटी में माँ का दर्शन मेरे जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि उसी बार माँ ने कृपा करके मुझे दीक्षा भी दिया था। बाद में मैंने कलकत्ते में भी माँ का दर्शन किया। जयरामबाटी हो या कलकत्ता – वे जहाँ कहीं भी रहतीं, मैंने देखा है – उनका मन सार्वभौमिक था। उनका जन्म एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में हुआ था और वे परम्परागत परिवेश में निवास करती थीं। उनके आसपास सर्वदा पुरातनपन्थी बनी रहती थीं, परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि स्वयं उनमें कभी कोई कट्टरता या रूढ़िवादिता देखने को नहीं मिलता। जाति, धर्म, वर्ण तथा सम्प्रदाय के दायरों का उनके लिए कोई महत्त्व न था। उनकी इस उदारता की बात सर्वविदित थी।

माँ यदि एक बार भी किसी को देख लेतीं, तो उसे कभी नहीं भूलतीं। मेरे साथ उनका अति अल्प समय का परिचय था, लेकिन माँ मुझे कभी भूली नहीं। माँ अपनी अन्तिम बीमारी के समय जब बागबाजार के उद्बोधन में रहती थीं, उस समय निवेदिता विद्यालय की छात्राएँ बारी -बारी से उनकी सेवा में नियुक्त रहतीं। उनमें से एक छात्रा मेरी बहन थी। एक दिन वह माँ को पंखा झल रही थी। मैंने माँ को कभी नहीं बताया था कि वह मेरी बहन है। माँ बोलीं, "तुम तो मनोरंजन की बहन हो? है न?" उसने हामी भरी। मेरे पूर्वाश्रम का नाम मनोरंजन था। बाद में मैंने बहन से यह बात सुनी थी। सुनकर अवाक् रह गया था कि इतने भक्तों में भी माँ ने मुझे याद रखा है। अब जीवन की संध्या में आकर समझ रहा हूँ कि यह उनके लिये स्वाभाविक ही था, क्योंकि वे जगज्जननी थीं और निरन्तर अद्वैत अनुभूति की सर्वोच्च अवस्था में स्थित रहती थीं। उनका कर्मादर्श, जीवनादर्श तथा धर्मादर्श – सब इस अद्वैतभूमि से ही उदित होता था।

माँ को जितना देखा है और जीवन की संध्या में पहुँचकर मुझे उनके बारे में जो उपलब्धि हुई है, वह यह है कि माँ आदर्श सेवायोगिनी थीं। उनकी देह, मन तथा सत्ता सर्वदा सर्वोच्च प्रशान्ति की भूमि पर अवस्थान करती। उनके जीवन का हर क्षण उन्होंने सभी मनुष्यों के कल्याण में लगाया है। उनकी दृष्टि में सभी मनुष्य समान थे। सभी उनकी सन्तान थे। इस मातृत्व की भूमि से ही उन्होंने अद्वैत-अनुभूति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में रूपायित किया था। जब मैंने स्थूल देह में उनका दर्शन किया था, तब भला कितना समझ सका था? पर अब अपनी जीवन-संध्या में पहुँचकर समझ पा रहा

(शेष पृष्ठ १२९ पर)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२१०. भगवान भाव के भूखे हैं

श्री चैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत के भ्रमण पर निकले थे। एक मन्दिर में उन्होंने एक व्यक्ति को गीता का पाठ करते हुए देखा। उन्होंने जान लिया कि इस व्यक्ति को संस्कृत का ज्ञान नहीं है, इसी कारण वह शब्दों का गलत उच्चारण कर रहा है, किन्तु उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि अर्थ न जानते हुए भी वह ग्रन्थ को इतनी एकाग्रता से पढ़ रहा था! ग्रन्थ में भावार्थ न दिये जाने से वह एक अध्याय समाप्त हो जाने के बाद दूसरा अध्याय पढ़ना शुरू कर देता है। गीतापाठ के साथ-ही-साथ उनकी नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। महाप्रभु चुपचाप जाकर उसके पीछे बैठ गये और आँखें बन्द करके गीता का श्रवण करने लगे।

पाठ पूरा हो जाने पर उन्होंने सामने आकर उस व्यक्ति को प्रणाम किया। इससे वह व्यक्ति संकुचित हो उठा। महाप्रभु ने पूछा, "आपने संस्कृत पढ़ी है?" वह बोला, "जी नहीं।" – "तब तो इसमें जो कुछ भी लिखा है, वह ठीक-ठीक आपकी समझ में नहीं आया होगा।" उसने बताया, "हाँ, परन्तु एक बात है; जब मैं गीता को पढ़ने लगता हूँ, तो मैं खुद को कुरुक्षेत्र के मैदान मैं उपस्थित पाता हूँ। मुझे सामने कौरव-पाण्डवों की सेना युद्ध के लिए सज्जित दिखाई देती है। मैं देखता हूँ कि अर्जुन द्वारा स्वजनों पर शस्त्रार्थ चलाने में असमर्थता व्यक्त करने पर भगवान श्रीकृष्ण उसे उपदेश देकर उसका उत्साह बढ़ा रहे हैं। उनके उपदेशों से प्रेरित हो अर्जुन पुन: शस्त्र उठाकर कौरवों के साथ युद्ध कर रहे हैं। अन्तत: जीत पाण्डवों की होती है। यह सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने आता है और ग्रन्थ कब पूरा होता है, पता नहीं चलता। महाप्रभु ने सुना, तो गद्गद होकर बोले, "गीता का निहितार्थ आप ही समझ पाये हैं, बाकी लोग तो तो इसका पठन मात्र करते हैं।"

शब्द-ज्ञान तथा विद्वत्ता की तुलना में भक्ति तथा भाव कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२११. उद्यम से है भाग्य बदलता

राजा विक्रमादित्य ने जब अपने पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया, तो एक ज्योतिषी ने उन्हें बताया कि एक ब्रह्म-राक्षस ने निश्चय किया है कि राजगद्दी पर जो कोई भी बैठेगा, उसे वह मौत के घाट उतार देगा। विक्रमादित्य ने सुना, तो मध्यरात्रि को वे श्मशान जा पहुँचे। वहाँ ब्रह्मराक्षस के दिखाई देने पर उन्होंने उससे पूछा, "क्या तुम मुझसे दोस्ती करोगे?" ब्रह्मराक्षस बोला, "अवश्य।" विक्रमादित्य – "अच्छा बताओ, तुम्हारा आयु-काल कितना है?" उसने उत्तर दिया, "सौ वर्ष।" विक्रमादित्य ने फिर पूछा, "क्या तुम इसे दस वर्ष बढ़ा नहीं सकते?" – "नहीं, इसे तो विधाता तय करता है। कोई भी आयुकाल में कम-ज्यादा नहीं कर सकता।" राजा ने पूछा, "जब आयु-काल को कम-ज्यादा करना किसी के बस की बात नहीं है, तब तुम दूसरों की आयु का नाश करने की बात कैसे सोचते हो? मैं यह देखना चाहता हूँ कि क्या मैं तुम्हारी आयु को कम कर सकता हूँ!" यह कहकर राजा ने म्यान से अपनी तलवार निकाली। राजा के हाथ में लपलपाती तलवार देखते ही ब्रह्मराक्षस घबरा गया और उसने वहाँ से भागना ही उचित समझा। जाते-जाते वह कहता गया, "मैं आपके राज्य से दूर, बहुत दूर जा रहा हूँ। यहाँ वापस आने की बात तो मैं कभी सोचूँगा ही नहीं।"

मनुष्य का भाग्य उसके पुराने पुरुषार्थ के आधार पर निर्मित होता है। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहने की जगह पुरुषार्थ द्वारा संकटों का सामना करना ही उचित है।

२१२. एकाकी रहना भला, बहु विवाद का मूल

एक बार राजर्षि नमि के शरीर में बड़ी पीड़ा होने लगी। राजवैद्य को बुलाया गया। उसने राजा के सारे शरीर में चन्दन का लेप करने को कहा। रानियाँ अन्त:पुर में चन्दन घिसने लगीं। राजा ने यह आवाज सुनकर अपने मंत्री से पूछा, "यह आवाज कहाँ से आ रही है? इसे तुरन्त रोक दिया जाए।" मंत्री ने दासियों से पूछताछ करने के बाद राजा को बताया कि आपके शरीर पर लेप के लिये रानियाँ चन्दन घिस रही थीं। उनके हाथों के कंगन आपस में टकराने से वह आवाज आ रही थी।" राजा ने पूछा, "तो क्या चंदन घिसना अब बन्द कर दिया गया है?" मंत्री ने बताया, "जी नहीं, चन्दन तो अभी भी घिसा जा रहा है, लेकिन रानियों ने अब अपने हाथों में एक-एक कंगन रखकर बाकी कंगनों को उतार लिया है।" राजा ने पूछा, "पर एक कंगन क्यों रहने दिया है?" मंत्री ने बताया, "महाराज, कंगन सुहाग का प्रतीक होने से स्त्रियाँ कम-से-कम एक कंगन हाथ में पहनती हैं।"

राजा बोले, "जानते हो, इससे क्या निष्कर्ष निकला? जैसे कंगन एक होने से शान्ति हो गयी है, वैसे ही अकेला मनुष्य सुखी रह सकता है। अधिक लोग एक साथ हों, तो उनमें विवाद तथा मनमुटाव होता है और वहाँ शान्ति नहीं रह पाती – **एकाकी ही नमि भलो, दोय मिल्या दुख होय**।"

'रामनाम-संकीर्तन' का इतिहास (५)

स्वामी विदेहात्मानन्द

।। अथ युद्धकाण्डम् ।।६।।

हनुमत्-श्लाघा-कारक राम ! सुग्रीव-प्रोत्साहक राम !!

– हे राम, तब आपने हनुमानजी की प्रशंसा की !! हे राम, आपने सुग्रीव को कूच करने के लिये उत्साहित किया !!

श्रुत-लंकापुर-संस्थित राम ! कृत-लंका-प्रस्थितमति राम !!

– हे राम, आपने सुना कि सीताजी लंका में रखी गयी हैं !! हे राम, आपने लंकापुरी जाने का संकल्प किया !!

यूथनाथ-कृत-निदेश राम ! हनुमदंसकृत-निवेश राम !!

– हे राम, आपने सेनापति को प्रस्थान के लिये निर्देश दिया !! हे राम, आपने हनुमान आदि को विशेष कार्यभार सौंपा !!

वानर-सेना-मध्यग राम, दक्षिण-जलनिध्यध्वग राम

– हे राम, आप वानर-सेना के मध्य में चले जा रहे थे !! हे राम, सभी लोग दक्षिणी समुद्र के तट पर जा पहुँचे !!

उदधि-तरण-चिन्ताकुल राम, सीता-विरह-व्याकुल राम

– हे राम, आप समुद्र-पार करने की चिन्ता से आकुल हो गये !! हे राम, आप सीताजी के विरह से व्याकुल हो गये !!

शरणापन्न-बिभीषण राम, तत्कृत-सुष्टुति-तोषण राम

– हे राम, विभीषण ने आकर आपकी शरण ली !! हे राम, उन्होंने भलीभाँति स्तुति करके आपको सन्तुष्ट किया !!

अर्पित-लंकाधिपत्य राम, विस्मायित-निज-सुभृत्य राम

– हे राम, आपने उन्हें लंका का राजा बना दिया !! हे राम, (इस प्रकार) आपने अपने सेवक को विस्मित कर दिया !!

संरक्षित-शुक-राक्षस राम, द्रुत-शरणागत-सागर राम

– हे राम, आपने लंका के गुप्तचर शुक की रक्षा की !! हे राम, आप तत्काल शरण देनेवाले (कृपा के) समुद्र हैं !!

निहिताभीर-परंपर राम, नल-कारित-जल-बंधन राम

– हे राम, आपने वानरों की सेना से प्रस्तर-खण्ड मँगवाये !! हे राम, आपने नल के द्वारा जल पर सेतुबन्ध बनवा दिया !!

कृत-लंका-स्थिति-वीक्षण राम, शुक-गीत-गुण-कदंबक राम

– हे राम, आपने लंका पहुँचकर स्थिति का निरीक्षण किया !! हे राम, शुक ने रावण के समक्ष आपका गुणगान किया !!

रावण-मुकुटच्छेदक राम, कपि-कारित-दृढ-संगर राम

– हे राम, आपने रावण के मुकुट को गिरा दिया !! हे राम, आपने सुग्रीव से सैन्यबल को सुदृढ़ कराया !!

जीवित-रण-चिंताकुल राम, मेघनाद-विद्रावक राम

– हे राम, आपने युद्ध में राक्षसों को चिन्ता से आकुल कर दिया !! हे राम, आपने मेघनाथ को परास्त करा दिया !!

प्रहस्तादि-तृण-पावक राम, कृत-रावण-बहुविधरुज राम

– हे राम, प्रहस्त आदि तृण-जैसे राक्षसों के लिये आप अग्नि के समान थे !! हे राम, आपने रावण को अनेकों प्रकार से संतप्त कर दिया !!

शक्ति-भिन्न-हृदयानुज राम, रावण-परिभव-दायक राम

– हे राम, लक्ष्मणजी का हृदय शक्तिबाण से विदीर्ण हो गया !! हे राम, आपने रावण को परास्त कर दिया !!

द्रोण-प्रस्थित-सेवक राम, कालनेमि-वध-कारक राम

– हे राम, आपके सेवक (हनुमानजी संजीवनी लाने) द्रोणगिरि गये !! हे राम, वहाँ उन्होंने कालनेमि राक्षस को मार डाला !!

द्रोण-गिरि-द्रुतहारक राम, औषधि-जीवित-लक्ष्मण राम

– हे राम, वे शीघ्रतापूर्वक द्रोणगिरि को उठा लाये !! हे राम, इस प्रकार प्राप्त औषधि से लक्ष्मणजी जीवित हो उठे !!

कुंभकर्ण-वध-दक्षिण राम, हरितेंद्रजिज्जीवन राम

– हे राम, आपने निपुणता से कुम्भकर्ण का वध किया !! हे राम, (लक्ष्मण द्वारा) इन्द्रजित का भी प्राण हर लिया गया !!

रण-परिभूत-दशानन राम, ध्वंसित-रिपु-होमक्रम राम

– हे राम, रावण युद्ध में पुन: आपसे हारकर लौटा !! हे राम, आपने शत्रु द्वारा किये जा रहे यज्ञ का विध्वंस कर दिया !!

रावण-दर्शित-विक्रम राम, आरूढेंद्र-स्यंदन राम

– हे राम, रावण ने आपके साथ युद्ध में बड़ा विक्रम दिखाया !! हे राम, आपने इन्द्र के रथ पर सवार होकर युद्ध किया !!

कृत-दशमुख-बल-कंदन राम, दशमुख-जीवाकर्षण राम

– हे राम, आपने दशमुख के बल का नाश कर डाला !! हे राम, आपने दशमुख की जीवात्मा को स्वयं में खींच लिया !!

सुरकृत-सुमनो-वर्षण राम, बिभीषणादि-स्तावक राम

– हे राम, देवताओं ने फूलों की वर्षा की !! हे राम, बिभीषण

पृष्ठ १२७ का शेषांश

हूँ कि सर्वदा अद्वैत अनुभूति की सर्वोच्च अवस्था में स्थित रहते हुए वे लोगों के समक्ष कितनी सहज तथा अनाडम्बर रूप से व्यवहार चलाती थीं। कितनी शक्ति की अधिकारिणी होने पर ऐसा सम्भव है ! यह अनुभूति तथा शक्ति उन्हें बाह्य किसी तपस्या के द्वारा अर्जित नहीं करनी पड़ी। उन्होंने अपनी सहज मातृत्व की शक्ति से ही उसे प्राप्त किया और किसी भी सन्तान को गर्भ में धारण किये बिना ही वे संसार के समस्त मनुष्यों की सचमुच की माँ हो उठी थीं। मैंने अपने जीवन के प्रथम पर्व में ही उन विश्वजननी का दर्शन पाया था। यही मेरे जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य है। ❑❑❑

आदि ने आपकी स्तुति की !!

कारित-रिपु-दहनादिक राम, लंकाभिषिक्त-निज-सुख राम

– हे राम, आपने शत्रु (रावण) का (यथाविधि) दाह-संस्कार सम्पन्न कराया !! हे राम, आपने स्वयं ही सुखपूर्वक (विभीषण) का राज्याभिषेक किया !!

सीताग्नि-शुद्धि-दर्शक राम, ब्रह्मेन्द्रादि-सुर-स्तुत राम

– हे राम, आपने सीताजी की अग्निपरीक्षा देखी !! हे राम, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवताओं ने आपकी स्तुति की !!

दशरथ-दर्शन-हर्षित राम, मृत-वानर-भट-जीवन राम

– हे राम, आप दशरथ का दर्शन करके अत्यन्त हर्षित हुए !! हे राम, आपने मृत वानर योद्धाओं को जीवित करा दिया !!

कारित-कपि-संमानन राम, पुष्पक-यानारोहक राम

– हे राम, आपने बन्दरों का विजय का श्रेय देकर सम्मानित किया !! हे राम, आपने पुष्पक यान में आरोहण किया !!

सीता-मनोविनोदक राम, भरद्वाज-मुनि-तोषी राम

– हे राम, आपने सीताजी के मन को आनन्द प्रदान किया !! हे राम, प्रयाग में आपने भरद्वाज मुनि को सन्तुष्ट किया !!

भरत-वाचिक-प्रेषी राम, भरतार्ति-मोद-दायी राम

– हे राम, आपने (हनुमानजी से) श्रीभरत को (नन्दी ग्राम में) मौखिक सन्देश भेजा !! हे राम, आपने भरतजी को अतीव आनन्द प्रदान किया !!

श्रीमदयोध्या-यायी राम, अमल-मंगल-स्नायी राम

– हे राम, आप अयोध्या आ पहुँचे !! हे राम, आपने वहाँ (राज्याभिषेक हेतु) मंगल-स्नान किया !!

गुरुजन-नमन-विधायी राम, राज्यभिषेक-सत्कृत राम

– हे राम, आपने गुरुजनों का अभिवादन किया !! हे राम, आपके राज्याभिषेक का सत्कृत्य सम्पन्न हुआ !!

सिंहासन-वर-संस्थित राम, लक्ष्मणाद्यनुज-सेवित राम

– हे राम, आप सिंहासन के ऊपर विराजमान हुए !! हे राम, आप लक्ष्मण आदि भाइयों के द्वारा सेवित हुए !!

शिव-शक्रादि-सुर-स्तुत राम, कृत-वानर-संमानन राम

– हे राम, शिव-इन्द्र आदि देवताओं द्वारा आपकी स्तुति की गयी !! हे राम, आपने वानरों का सम्मान किया !!

शारद-चंद्र-समानन राम, सजल-जलधर-श्यामल राम

– हे राम, आपका मुख शरतकालीन पूर्ण चन्द्र के समान है !! हे राम, आपका शरीर सजल मेघ के समान साँवला है !!

कोटि-मनोभव-कोमल राम, मुकुट-कुंडलालंकृत राम

– हे राम, आपका शरीर करोड़ों कामदेवों से भी अधिक कोमल है !! हे राम, आप मुकुट-कुण्डल आदि से अलंकृत हैं !!

मुक्ताहार-विराजित राम, वामांकस्थ-प्रियतम राम

– हे राम, आपके कण्ठ में मोतियों की माला शोभित हो रही है !! हे राम, आपके बायीं ओर श्री सीताजी विराजमान हैं !!

परिहित-पीत-पटोत्तम राम, करधृत-कार्मुक-सायक राम

– हे राम, आपने उत्तम पीत वस्त्र धारण कर रखे हैं !! हे राम, आपके हाथों में धनुष-बाण सुशोभित हो रहे हैं !!

भुवन-त्रितयी-नायक राम, हनुमत्कृत-प्रसादन राम

– हे राम, आप तीनों लोकों के नायक हैं !! हे राम, हनुमानजी आपको प्रसन्न करने में लगे रहते हैं !!

पुत्रवदविताखिल-जन राम, चित्तशुद्धि-कर-चरित्र राम

– हे राम, समस्त प्रजा आपके पुत्रों के समान है !! हे राम, आपका चरित्र (ध्यानकर्ता के) चित्त को शुद्ध करनेवाला है !!

अज्ञान-ध्वांत-नाशक राम, प्रेमल-परिषद्गामी राम

– हे राम, आप अज्ञान-अन्धकार का नाश करनेवाले हैं !! हे राम, आप अपने प्रेमियों के सान्निध्य में रहनेवाले हैं !!

पन्त-विट्ठल-स्वामी राम, राम राम जय सीताराम

– हे राम, आप कवि विट्ठल पन्त के स्वामी हो !! हे राम, हे राम, हे सीताराम, आपकी जय हो !!

इति श्रीमद्रामचन्द्र-पदारविन्द-मिलिन्दायमान-मानसेन पन्त-विट्ठल-शर्मणा विरचिते नाम-रामायणे युद्धकाण्डं समाप्तम् ।।

– श्रीरामचन्द्र के पादपद्मों में भ्रमर-सदृश चित्तवाले पन्त विट्ठल शर्मा द्वारा रचित नाम-रामायण का युद्धकाण्ड समाप्त हुआ ॥

नाम-रामायण – कुछ निष्कर्ष

रामकृष्ण संघ में प्रचलित 'रामनाम-संकीर्तन' के 'प्रचलित' संस्करण तथा विठोबा अन्ना (विट्ठल पन्त) द्वारा रचित 'विस्तृत' 'नाम-रामायण' का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि दोनों संस्करणों में 'बालकाण्ड' तो लगभग समान है, परन्तु अन्य सभी काण्ड बिल्कुल भिन्न हैं। विठोबा के 'नाम-रामायण' में उत्तरकाण्ड भी नहीं है। लेखक को विठोबा अन्ना द्वारा रचित सारा साहित्य देखने को अभी नहीं मिल सका है, तथापि उसका विश्वास है कि विठोबा अन्ना ने दोनों रामायणों की रचना की – पहले यह बड़ा नाम-रामायण लिखा और बाद में उसका एक संक्षिप्त रूपान्तर भी प्रस्तुत किया। एक अन्य सम्भावना भी है – मैसूर के श्री के. आर. मोहन ने कन्नड़ मासिक 'विवेक-प्रभा' के अगस्त २००६ अंक में प्रकाशित अपने लेख में तमिलनाडु प्रान्त के तंजौर के पास स्थित तिरुवायरु के निवासी श्री लक्ष्मणाचार्य को इसका रचयिता बताया है, जो १९१९ ई. में दिवंगत हुए। यह जानकारी उन्हें मैसूर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'कर्नाटक संगीत पारिभाषिक शब्दकोश' तथा दक्षिण भारतीय संगीत तथा संगीतकारों के 'Dictionary of South Indian Music and Musicians', नामक कोश के पाँचवें खण्ड (पृ. १५२)

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

स्वामी कल्याणानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

कनखल सेवाश्रम के इतिहास में १९०३ ई. कई दृष्टियों से एक स्मरणीय साल था। इस वर्ष के अन्त में स्वामी ब्रह्मानन्द वाराणसी से वहाँ पधारे और एक पर्णकुटीर में करीब एक महीने निवास किया। महाराज की उपस्थिति में सेवाश्रम के साधुकर्मी तथा सेवक – सभी के प्राणों में एक अभूतपूर्व प्रेरणा संचरित हुई थी। महाराज प्राय: ही कहते कि वृन्दावन तथा कनखल – ये दो स्थान उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। १९१२ ई. के मार्च में स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एक बार और भी कनखल में पदार्पण किया था। उस बार उनके साथ स्वामी तुरीयानन्दजी, शिवानन्दजी, अचलानन्दजी, रामलाल दादा तथा अन्य कई साधु-भक्त भी आये थे। इस बार स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने अपनी टोली के साथ करीब सात महीने सेवाश्रम में निवास करके वहाँ एक अनिर्वचनीय आनन्द का निर्झर प्रवाहित किया था। कनखल सेवाश्रम के इतिहास का वह एक अविस्मरणीय अध्याय है। रामकृष्ण संघ के अधिनायक तथा उनके संगी साधु-महात्मा तथा भक्तों की उपस्थिति से हरिद्वार-ऋषीकेश अंचल के साधु-समाज में हलचल मच गयी थी। तब से अनेक स्थानीय आश्रमों के महन्त तथा साधुगण सेवाश्रम के और भी घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये थे। उस वर्ष ब्रह्मानन्दजी महाराज की इच्छानुसार कलकत्ते से प्रतिमा मँगवाकर सेवाश्रम में बड़ी धूमधाम से दुर्गापूजा मनायी गयी थी। इस उपलक्ष्य में सम्प्रदाय-निरपेक्ष भाव से समस्त साधुओं को सेवाश्रम में आमंत्रित किया गया था और ब्रह्मानन्दजी के आग्रह पर कल्याणानन्द ने साधुओं के लिये सेवाश्रम में एक विराट् समष्टि भण्डारे का आयोजन किया था। इन सात महीनों के दौरान कल्याणानन्द तथा उनके सहयोगी निश्चयानन्द ने अद्‌भुत निष्ठा के साथ उपस्थित साधु-सज्जनों की सेवा की थी। सेवाश्रम के प्रति ब्रह्मानन्दजी का सर्वदा ही उदार आशीर्वाद का भाव था। १९१७ ई. में सेवाश्रम का जो वार्षिक प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ था, उसमें मुद्रित महाराज की सारगर्भित भूमिका ने सेवाश्रम को असीम गौरव का अधिकारी बनाया है। सेवाश्रम के विषय में उन्होंने लिखा था, "... a great temple of the worship of the Virat, in the upraising of which, the helper, the

पिछले पृष्ठ का शेषांश

से प्राप्त हुई। उन्होंने कर्नाटक के गाँवों तथा मन्दिरों में पाठ किये जानेवाले 'नाम-रामायण' की एक मुद्रित प्रति भी हमें भेजी है। तद्-विषयक कुछ जानकारियाँ निम्नलिखित हैं – बैंगलोर के कार्तिक पब्लिकेशन्स द्वारा प्रकाशित १६ पृष्ठों की इस पुस्तिका का नाम है 'श्री रामनामामृत'। यह पुस्तिका अधिकांश रामकृष्ण संघ में प्रचलित 'रामनाम-संकीर्तन' से मिलती है, केवल 'उत्तर-काण्ड' बिल्कुल भिन्न है। अध्ययन की सुविधा के लिये इसका अनुलिखन प्रस्तुत है –

रजक-कटूक्त्युद्दीपित राम
विपिन-प्रेषित सीता राम (९०)
कान्ता-विरह-सुदुःखित राम
सोदर-संवर्धित मति राम
शम्बुकाख्य-विमर्दक राम
साहस-शोषित-भूसुर राम
अश्वमेध-कृत-दीक्षा राम
अनुपम-बल-बहु-दुर्जय राम
लवकुश-जननानन्दित राम
तनुभव-सुविनुत-निजकथ राम
सरसिज-बहुमुख-बोधित राम
सकल-सुरस्तुत-दशरथ राम (१००)
भजकाभीष्टद-सुरकुज राम
भुवन-त्रय-सम्पूजित राम
अकलंकित-जन-पोषक राम
विनय-विशेष-सुशोभित राम
नील-मेघ-निभ-विग्रह राम
निर्विकार-सदनुग्रह राम
जय जय रघुकुल-मौक्तिक राम
जय जय रम्य-गुणान्वित राम (१०८)
रघुपति राघव राजा राम
पतित-पावन-सीता राम
राम राम जय राजा राम
राम राम जय सीता राम

मंगलं कोशलेन्द्राय महनीय गुणात्मने।
चक्रवर्ति-तनूजाय सार्वभौमाय मंगलम्।।

❖ (समाप्त) ❖

worker, and the helped will all be blessed.'' अर्थात् यह विराट् की उपासना का एक महान् मन्दिर होगा, जिसके निर्माण से सेवक, कर्मी तथा सेव्य – सभी धन्य हो जायेंगे।

स्वामी शिवानन्दजी तथा तुरीयानन्दजी ने बाद में और भी कई बार आकर कनखल में निवास किया था। विशेषकर स्वामी तुरीयानन्दजी का कनखल के प्रति एक विशेष आकर्षण था – 'कल्याण' तथा 'निश्चय' उनके बड़े स्नेह के पात्र थे। तुरीयानन्दजी जब सेवाश्रम में रहते, तब कनखल सेवाश्रम मानो वेदान्त-चर्चा के एक पीठस्थल में परिणत हो जाता। इन ब्रह्मविद् महापुरुष के सान्निध्य में आकर आश्रम के साधुओं तथा स्थानीय धर्म-पिपासुओं के प्राण असीम शान्ति की बाढ़ से आप्लावित हो जाते। तुरीयानन्दजी कभी-कभी निर्जन में गंगातट पर एकाकी रहकर तपस्या आदि करते, परन्तु वे जहाँ कहीं भी रहते, कल्याणानन्द का सेवा-प्रवण मन तुरीयानन्दजी के ही साथ भ्रमण करता रहता था। स्मरणीय है कि १९१० ई. के मार्च में नांगल में तपस्या की कठोरता के फलस्वरूप जब तुरीयानन्दजी का स्वास्थ्य भग्न हो गया था, तब कल्याणानन्द तत्काल नजीबाबाद जाकर उन्हें कनखल ले आये और उनकी यथासाध्य सेवा-सुश्रूषा आदि की व्यवस्था कर दी थी। इसी काल की एक अन्य उल्लेखनीय स्मृति है – काशीधाम से स्वामी प्रेमानन्द अपने अस्वस्थ गुरुभाई हरि महाराज को देखने कनखल आये थे। श्रीरामकृष्ण के दो वरिष्ठ संन्यासी-शिष्यों को एकत्र पाकर कल्याणानन्द ने उनकी जी-जान से सेवा की थी। इन दोनों महापुरुषों के सान्निध्य से उन दिनों उनके लिये ज्ञान के कितने ही नये-नये स्रोत खुल गये थे। अपने गुरुदेव विवेकानन्द के इन दो घनिष्ठ सहचरों के एकान्त संग में कल्याणानन्द मानो साक्षात् अपने गुरुदेव के संग का ही अनुभव किया करते थे।

एक दिन तुरीयानन्दजी बड़े उत्साहित होकर स्वामी विवेकानन्द के विषय में बोल रहे थे, ''वे निर्भीक थे। उन्होंने बिना किसी समझौते के सर्वोच्च सत्य का प्रचार किया था। वे केवल देते थे, बदले में कुछ भी नहीं चाहते थे। दूसरे लोग एक बूँद देते हैं और उसके बदले में बाल्टी भर की अपेक्षा रखते हैं।'' यह सुनकर प्रेमानन्दजी ने आवेगपूर्ण कण्ठ से कहा था, ''हमने दो महापुरुषों को देखा है –श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी को। उनके साथ अन्य किसी की भी तुलना नहीं हो सकती।'' उस दिन यह वार्तालाप सुनकर कल्याणानन्द भावविभोर हो गये थे। ऐसी कितनी ही घटनाएँ तथा कितनी ही स्मृतियाँ कल्याणानन्द के अन्तर में यत्नपूर्वक सँजोकर रखी हुई थीं और उन्हें जीवन भर प्रेरणा देती रहीं। तुरीयानन्दजी के अन्तरंग साहचर्य के फलस्वरूप, कल्याणानन्द की समग्र जीवन-साधना में प्रतिक्षण संन्यास का एक सुस्पष्ट चित्र जाज्वल्यमान रहा करता था। इसीलिये अपनी प्रचण्ड कर्म-व्यस्तता के बीच भी उनके मुख से प्राय: ही सुनने में आता, ''देखो, मेरा और है ही क्या? वह कमण्डलु, दण्ड और भिक्षा की साफी!'' संन्यासी कल्याणानन्द के सम्मुख तुरीयानन्दजी का प्रसंग उठने पर वे एक उद्दीप्त सिंह के समान उत्साहित हो उठते और उनके विषय में कितनी ही बातें बताने लगते।

महापुरुष शिवानन्दजी १९२३ ई. की फरवरी में जब दुबारा कनखल आये, तब तक वे संघाध्यक्ष बन चुके थे। इस वर्ष उन्होंने कई प्रार्थियों को सेवाश्रम में ही ब्रह्मचर्य तथा संन्यास की दीक्षा दी। कल्याणानन्द की इच्छा थी कि इस बार भी महापुरुषजी कनखल तथा उसके आसपास के तीर्थों का दर्शन करें। उनकी मात्र पाँच-छह दिनों की उपस्थिति से ही सेवाश्रम की दैनन्दिन कर्मधारा में एक नवीन उद्यम दीख पड़ा। 'वचनामृत'कार मास्टर महाशय ने भी कुछ काल कनखल में रहकर साधन-भजन तथा तपस्या आदि की थी। सम्भवत: वह १९१२ या १९१३ ई. का समय था।

हम पहले ही कह आये हैं कि कल्याणानन्द के गुरुभ्रातागण सेवाश्रम के उनके कार्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनकी सहायता किया करते थे। १९०१-०२ ई. स्वामी विरजानन्द जब 'प्रबुद्ध-भारत' के प्रचार हेतु उत्तर तथा पश्चिम भारत का भ्रमण कर रहे थे, उस समय वे कनखल में आकर अपने गुरुभाई कल्याणानन्द का अद्भुत सेवा-प्रकल्प देखकर मुग्ध हो गये थे। तीन गुरुभाइयों के मिलन की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सेवाश्रम में जिस आनन्दोज्वल परिवेश की सृष्टि हुई थी, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। विरजानन्द ने सेवाश्रम के कार्य में कल्याणानन्द को खूब उत्साहित करते हुए, स्वयं भी उसके लिये कुछ चन्दा एकत्र करने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया था।

एक अन्य समय – १९०६ ई. की बात है। स्वामी तुरीयानन्द उन दिनों कनखल में निवास कर रहे थे। विरजानन्द ने मायावती से नीचे आकर कुछ दिन कनखल में रहकर तपस्या आदि की थी। उन दिनों वे प्राय: सारे दिन सेवाश्रम के मन्दिर में बैठकर ध्यान-जप में डूबे रहते। माधुकरी भिक्षा के द्वारा किसी प्रकार भोजन निपटाकर ध्यान-भजन करने और तुरीयानन्दजी के पुनीत संग में ही उनके दिन का अधिकांश समय व्यतीत होता। विरजानन्द की कठोर तपस्या देखकर कल्याणानन्द उन्हें किसी तरह कुछ सुख-सुविधा देने की बड़ी चेष्टा करते। अस्तु, कल्याणानन्द ने काफी अनुनय-विनय करके आखिरकार विरजानन्द को सेवाश्रम के रसोईघर से थोड़ी-सी सब्जी की भिक्षा स्वीकार करने को राजी करा लिया था। बाद में उन्होंने और भी दो-एक बार कनखल आकर अपने गुरुगतप्राण गुरुभाई को साहचर्य प्रदान किया था।

गुरुभाइयों को आमंत्रित करके उनकी सेवा करना और उनके लिये तपस्या आदि हेतु अनुकूल व्यवस्था करना कल्याणानन्द का एक अति प्रिय कार्य था। इसके सिवा वे संघ के और भी अनेक साधनानिष्ठ साधुओं की सेवा का भार स्वीकार करने हेतु प्रसन्नचित्त से अग्रसर हुआ करते थे।

स्वामी कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द के आप्राण उद्यम से सेवाश्रम का कार्य उत्तरोत्तर विस्तारित होते हुए क्रमश: विभिन्न विभागों तथा उपविभागों से सम्पन्न होकर शीघ्र ही वह एक विशाल सेवायतन में परिणत हुआ। उसके अन्तर्विभाग तथा बहिर्विभागों में प्रतिवर्ष हजारों पीड़ित साधु-संन्यासी, तीर्थयात्री तथा निर्धन लोग आकर नि:शुल्क चिकित्सा प्राप्त करते हैं। रामकृष्ण मिशन द्वारा परिचालित कनखल का यह सेवाश्रम समग्र उत्तराखण्ड की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। पर कल्याणानन्द की कर्मपरिधि केवल रोगियों की सेवा तक ही सीमाबद्ध न थी। उनके प्रयासों से हरिद्वार में कुम्भ-मेले के उपलक्ष्य में तीर्थ-यात्रियों के निवास की व्यवस्था तथा अन्य अनेक सेवामूलक कार्य सम्पन्न हुए थे। उनके जीवन-काल में तीन बार – १९०३, १९१५ तथा १९२७ ई. में कुम्भ-मेलों का आयोजन हुआ था। कल्याणानन्द द्वारा आरम्भ किये हुए कुम्भ-मेले के इस सेवा-कार्य का संचालन अब तक कनखल सेवाश्रम की कर्मसूची का एक अंग बना हुआ है। सेवाश्रम में रोगियों के लिये ग्रन्थालय के अतिरिक्त आम-जनता के लिये भी एक ग्रन्थालय की स्थापना कल्याणानन्द की जनसेवा का एक अन्य पक्ष है। १९०५ ई. में इस ग्रन्थालय का कार्य आरम्भ हुआ था। १९१३ ई. में उन्होंने कनखल अंचल के श्रमिकों तथा उनके बालक-बालिकाओं के लिये सेवाश्रम में ही एक निशा-विद्यालय की स्थापना की थी। परवर्ती काल में उन्होंने इस विद्यालय को और भी अच्छी तरह व्यवस्थित करने के बाद उसे मेहतरों की बस्ती में ही स्थानान्तरित कर दिया था। उन दिनों सरकार या अन्य कोई भी संस्था भंगी, मेहतर तथा अन्य निम्न जाति के लोगों की शिक्षा-दीक्षा के विषय में विशेष चिन्ता नहीं करती थी। बच्चों से लेकर वृद्धों तक के इस निशा-विद्यालय के छात्रों की संख्या १४० तक जा पहुँची थी। तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में यह सचमुच ही एक विस्मयजनक संख्या है। स्मरणीय है कि यह गाँधीजी के हरिजन-आन्दोलन के बहुत पहले की बात है। अवहेलित उपेक्षित मोची, मेहतर, डोम तथा पतित चाण्डालों के लिये कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द का हृदय सर्वदा ही व्यथित रहा करता था। मानो स्वामी विवेकानन्द की ही अनन्त प्रेमसत्ता इन दोनों शिष्यों के भीतर प्रविष्ट हो गयी थी। दोनों गुरुभाई – सेवाश्रम के निकट रहनेवाले मोची -डोम आदि लोगों के लिये निरन्तर पेय जल की व्यवस्था करने, उनके लिये कुएँ खुदवाने, आवश्यकता के समय उनकी आर्थिक सहायता करने, उनके घर बनवाने आदि अनेक प्रकार की सेवाओं में लगे रहते थे।

कल्याणानन्द का सेवामय जीवन एक सतत प्रज्वलित दीपशिखा के समान था। सेवाश्रम के इन प्रारम्भिक दिनों की निर्धन अवस्था में वह जैसा दीप्तिमान था, परवर्ती काल के सहज सुलभता के दिनों में भी वैसा ही प्रखर तेजोमय हुआ था। जीवन की सभी प्रकार की परिस्थितियों के बीच संन्यासी-सुलभ कठोर नैतिकता तथा आदर्शबोध को बनाये रखना उनके चरित्र का एक खास वैशिष्ट्य था और इसी गुण ने उन्हें इतना महान् बना रखा था। सेवाश्रम के किसी-किसी कर्मी ने उनसे अनुरोध किया था कि वे अन्य अस्पतालों के समान ही सेवाश्रम के कार्य का भी समय निर्धारित कर दें। इस पर कल्याणानन्द ने उत्तर दिया था, "देखो, हम लोगों का तो यह अस्पताल नहीं है। स्वामीजी ने हमें सेवा करने के लिये भेजा है। यह सेवाश्रम है। यहाँ तो भाई, घड़ी के अनुसार कार्य नहीं चलेगा। हमारा तो सेवा-भाव है।" सेवाश्रम को वे साधना-क्षेत्र – भगवत्-उपासना का स्थान मानते थे। इसीलिये उसकी स्वच्छता तथा पवित्रता की ओर उनका विशेष ध्यान रहा करता था। वे सेवाश्रम को फूलों के उद्यान से सुसज्जित रखने के लिये आप्राण चेष्टा करते रहते थे। किसी के ऐसा कहने पर कि पुष्पवृक्षों के आधिक्य से मच्छरों के प्रकोप में वृद्धि हो गयी है, वे बोले, "यह कैसी बात! मच्छरों के मौसम में थोड़े मच्छर तो होंगे ही। इसी कारण क्या स्वामीजी के आश्रम में फूल ही नहीं उगाये जायेंगे?"

उनकी सारी साधना, सेवा, कर्म, उपासना आदि सब कुछ केवल स्वामीजी के भावों के आधार पर ही सम्पन्न होते थे। कर्मयोगी कल्याणानन्द असंख्य कठोर कर्मों के बीच भी निष्कामता की सौम्य प्रतिमूर्ति थे। वे अपने ध्यान-जप तथा सेवा-साधना की समस्त धाराओं को केवल एक ही दिशा में चलाते थे – और उसका गन्तव्य था उनके जीवनादर्श स्वामी विवेकानन्द। वे जब कभी लोगों के समक्ष स्वामीजी के बारे में बोलने का प्रयास करते, तो उनका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता। एक बार उन्होंने कहा था, "देखो, मैं स्वामीजी के विषय में भला क्या कह सकता हूँ? वे जो कुछ थे, उसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता। मैं कभी उनके मुख की ओर देख नहीं पाता था। उनके नेत्र इतने तेजस्वी थे मानो उनसे सर्वदा ज्योति निकलती रहती हो। यदि कभी उनकी आँखों से आँख मिल जातीं, तो सिर अपने आप ही झुक जाता, नेत्र धरती की ओर देखने लगते। उन्हें ध्यान-तन्मय देखना एक दर्शनीय चीज थी – लगता मानो ठीक पत्थर की मूर्ति हों। हम लोग भी मन्दिर में ध्यान करते – उस समय हम साँस लेते हुए भी डरते कि कहीं हमारे साँस की ध्वनि से उनके ध्यान में बाधा न पड़ जाय। अहा, वह क्या ही मूर्ति होती –

जैसा तुम लोग चित्र में देखते हो – एक हाथ के ऊपर दूसरा हाथ रखे हुए ! वे प्रतिदिन प्रात: मन्दिर में घण्टे-पर-घण्टे – तीन-चार घण्टे तक लगातार एक ही आसन में बैठे रहते।''

संन्यासी का कठोर तपस्या का जीवन कल्याणानन्द के लिये स्वाभाविक दिनचर्या बन चुकी थी। यदि कोई व्यक्ति उन्हें कोई अच्छा कम्बल, कुर्ता या धोती प्रदान करता, तो वे तत्काल उसे किसी निर्धन रोगी के पास भेज देते। एक बार एक नवागत ब्रह्मचारी कनखल की प्रचण्ड ठण्ड से त्रस्त हो उठे और आने के कुछ दिनों बाद ही उन्होंने पाँवों में पहनने के लिये एक जोड़ा मोजा माँगा। इस पर कल्याणानन्द ने हँसते हुए कहा था, ''भाई, संन्यासी होने आये हो और अब भी तुम्हें मोजों की जरूरत पड़ती है?'' वे स्वयं हमेशा सस्ते जूतों का उपयोग करते थे। भयंकर ठण्ड में भी वे रूई का कुरता पहनते थे। आहार-विहार तथा वेशभूषा में वे सीधा-सादा तथा सामान्यता का भाव पसन्द करते थे और दूसरों को भी वे उसी का उपदेश देते थे।

लम्बे अर्से तक कठोर परिश्रम तथा तपोमय जीवन के फलस्वरूप उन्हें अपने जीवन के अन्तिम पन्द्रह वर्ष भग्न स्वास्थ्य में ही बिताने पड़े। कष्टकर मधुमेह रोग के प्रकोप से उनका शरीर क्रमश: दुर्बल होता जा रहा था। सबके अनुरोध करने के बावजूद वे कलकत्ते या वाराणसी जाकर उपयुक्त चिकित्सा आदि की व्यवस्था के लिये राजी नहीं हुए। केवल ग्रीष्म काल में वे कभी-कभी जलवायु-परिवर्तन हेतु मसूरी, अल्मोड़ा या काश्मीर के किसी स्थान में कुछ दिनों के लिये गये थे। १९३२ ई. में उन्होंने मायावती में जाकर वहाँ भी कुछ काल विश्राम किया था। १९३४ ई. के अक्तूबर में उनके प्राणप्रिय गुरुभाई तथा सहचर निश्चयानन्द ने कनखल में ही महासमाधि ली। इस घटना से कल्याणानन्द का मानो दाहिना हाथ ही चला गया था। इस प्रचण्ड आघात से उनके भग्न स्वास्थ्य को और भी क्षति पहुँची।

१९३७ ई. के जून में वे चिकित्सकों की सलाह पर मसूरी गये। वहाँ एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर उसी में उनकी चिकित्सा पथ्य आदि की सारी व्यवस्था की गयी। कनखल के साधुओं को आशा थी कि वे शीघ्र ही स्वस्थ होकर पुन: उनके बीच लौट आयेंगे और अगले कुम्भ-मेले के सेवाकार्य का नेतृत्व सँभाल लेंगे। वहाँ की जलवायु तथा चिकित्सा के फलस्वरूप कुछ दिनों तक उनके स्वास्थ्य में कुछ सुधार देखने में आया भी, परन्तु कोई स्थायी सुधार दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

२० अक्तूबर की प्रात:काल कल्याणानन्द काफी अस्वस्थ बोध कर रहे थे। वे सुबह से ही बिना कुछ खाये बिस्तर पर पड़े रहे। अपराह्न में तीन बजे केवल एक बार उठकर वे कुर्सी पर बैठे थे, थोड़ा-सा दूध भी पीया था, पर सारा शरीर काँपते रहने के कारण वे पुन: लेटने को बाध्य हुए। थोड़ी देर बाद उनके शरीर में असह्य जलन होने लगी। चिकित्सकगण यथासाध्य प्रयास करने लगे, पर प्रस्थानोन्मुख संन्यासी शान्तिपूर्ण मुस्कान के साथ कहने लगे, ''डॉक्टर, अब भला क्या हो सकता है? मैं मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा हूँ !'' चिकित्सकों तथा सेवकों के सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होते रहे। कल्याणानन्द के मुख से बीच-बीच में 'माँ'-'माँ' की अस्फुट ध्वनि के सिवा बाकी सब कुछ क्रमश: शान्त-नीरव होने लगा। रात के साढ़े दस बजे वे सहसा बिस्तर से उठे और आरामकुर्सी पर बैठकर दो घूँट जल पीया। २० अक्तूबर, १९३७ की रात को ११ बजकर १० मिनट पर बड़े स्पष्ट रूप से तीन बार 'माँ' नाम का उच्चारण करके स्वामी कल्याणानन्द महा-समाधि में निमग्न हो गये। अगले दिन लोकान्तरित संन्यासी के पूत शरीर को कनखल में लाया गया और यथारीति मर्यादापूर्वक जाह्नवी के गर्भ में समर्पित कर दिया गया।

स्वामी कल्याणानन्द ने मर्त्यलोक का त्याग कर दिया था, परन्तु उनकी महान् कीर्ति उनकी साधना तथा सिद्धि की कथा बताने के लिये जीवित रहेगी। रामकृष्ण संघ की सेवा-साधना के इतिहास में कल्याणानन्द चिरकाल तक अमर रहेंगे। जो लोग स्वामी विवेकानन्द के सेवा-आदर्श के पीछे निहित दर्शन के शोधार्थी हैं, वे निश्चित रूप से स्वामीजी के इन प्रिय शिष्य के जीवन पर अनुसन्धान करेंगे। उनके महा-प्रयाण के उपरान्त 'उद्बोधन' मासिक के सम्पादकीय प्रबन्ध में लिखा गया था, ''स्वामी कल्याणानन्द के जीवन में गुरुभक्ति तथा सेवा ने मानो जीवन्त रूप धारण कर लिया था। वे एक यथार्थ कर्मयोगी तथा आचार्य विवेकानन्द के सुयोग्य शिष्य थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके समान एक महाप्राण साधक के देहावसान से, न केवल रामकृष्ण मठ तथा मिशन की, अपितु सम्पूर्ण देश की क्षति हुई है।'' इस असीम क्षति के बीच भी हमारे लिये सांत्वना की बात यह है कि स्वामी कल्याणानन्द के शरीर के साथ-साथ उनके आदर्श का भी विलय नहीं हुआ – वह चिर काल तक लोगों को सेवाधर्म में अनुप्राणित करता रहेगा। ❑❑❑
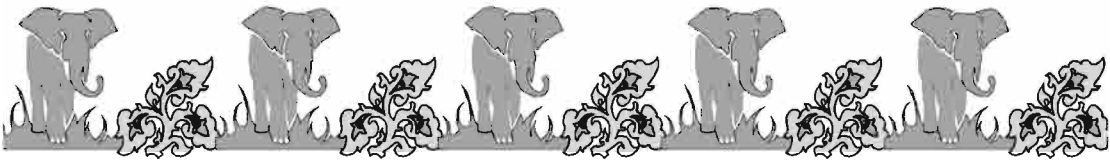
कर्मयोग – एक चिन्तन (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

असल में अर्जुन रिश्तेदारों को मारने के भय से भागना चाहते थे। वे श्रीकृष्ण से कहते हैं – **दृष्ट्वा इमं स्वजनं कृष्ण ... सीदन्ति मम गात्राणि** – इन लोगों को देखकर मेरा मन घबड़ा रहा है, मेरा शरीर शिथिल होते जा रहा है। अगर अर्जुन के मन में परम वैराग्य हो जाता, तो ठीक था। क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में सफल होना है तो '**वैराग्यं समुपाश्रितं** – वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिये। जब संसार से वैराग्य होता है, तभी व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी होता है। पर वास्तव में अर्जुन के मन में वैराग्य नहीं हुआ था। वे चाहते थे कि मैं अपने स्वजन-सम्बन्धियों को मारने के पाप से बच जाऊँ। पर साधारणत: कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होता, बहुतों में कोई एक ऐसा होता है, जो अपनी भूल को स्वीकार कर ले। इसे अंग्रेजी में कहते हैं 'Face Saving' – अपना मुँह छुपाना या बचाना। हमसे गलती हो गयी किन्तु उसको स्वीकार न करके दूसरा बहाना बनाते हैं, यह है 'Face Saving'।

मान लीजिये, हमको किसी ने रात में भोजन के लिये बुलाया। उसने बहुत सारी मिठाइयाँ, और जो रुचिकर, स्वादिष्ट अन्न-पकवान आदि था, वह सब हमको खिलाया। हमने रात को भरपेट से भी अधिक खा लिया। अब आधी रात को पेट में दर्द हो रहा, ठीक नहीं लग रहा है। तब हम आधी रात को डॉक्टर को बुलाते हैं। जब डॉक्टर साहब आये, तो हमने बताया कि शायद यहाँ की पानी में खराबी है, इसलिये मेरा पेट खराब हो गया है। हमने यह नहीं बताया कि रात को मैंने बहुत तरह का स्वादिष्ट भोजन अधिक मात्रा में कर लिया था। इसका नाम है 'Face Saving' – अपनी गलती छिपाना। जिस प्रकार आप-हम अपनी गलती स्वीकार नहीं करना चाहते, उसी प्रकार अर्जुन भी भगवान के सामने यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि इन रिश्तेदारों को मारना मुझसे नहीं होगा और मैं भागना चाहता हूँ। यदि रिश्तेदार न होते, दूसरे संबंधी न होते, तो उन सब को मार कर अर्जुन राज्य प्राप्त कर लेते। क्योंकि उनके मन में तो संसार की इच्छा थी, भोग की इच्छा थी।

आइये। आप-हम अर्जुन के समान अपने-आपसे पूछें।

भगवान से अर्जुन ने प्रश्न किया कि मेरे लिये श्रेयस्कर क्या है? किन्तु उनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी थी। भगवान ने जब उपाय बताया तो वे शार्टकट सोचने लगे। गीता का सबसे बड़ा संदेश है कि जीवन में जो कुछ आता है, उसे स्वीकार करो, उससे पलायन मत करो। उसका सामना करो। पलायन से जीवन में कभी भी शांति नहीं मिल सकती, जीवन कभी-भी सुखी और संतुलित नहीं हो सकता। जो कर्तव्य प्रारब्ध से हमारे जीवन में आया है, उस कर्तव्य की पूर्ति हमारे लिये परम आवश्यक है। अर्जुन को ज्योंहि यह कर्म झंझट लगा, उसके मन में पलायन की वृत्ति आ गयी। मोह के कारण आपको-हमको जब अपने कर्तव्य कठिन लगने लगते हैं और हम उसका दायित्व नहीं लेना चाहते, तब हम 'Face Saving' उपाय निकाल लेते हैं। किसी ने अगर कहा कि रोज मंदिर में जाकर जप किया करो, तो तुम्हारे मन में शान्ति आयेगी। तो जिन्होंने सलाह दी, उन्होंने कई साल मंदिर में बैठकर जप किया है और तब सलाह दी है। मंदिर में बैठकर जप करना, तुमको बहुत अच्छा लगा, किन्तु उन्होंने जब 'प्रतिदिन' शब्द जोड़ दिया तब सब गड़बड़ हो गया। हम सोचते हैं कि मंदिर में बैठकर जप करो। कब? जब उत्सव हो, रक्षाबंधन हो और दूसरा कोई त्यौहार हो, तब। अब रक्षाबंधन तो साल में एकबार आयेगा तो बात अच्छी लगती है क्योंकि ये 'Face Saving' हो गया। एक दिन गये और जप किया और 'Face Saving' मार्ग ढूँढ निकाला। यहाँ हमारे जीवन में ये पलायन दिखाई देता है। प्रत्येक के जीवन में यदि हम देखेंगे कि यदि मन में अशान्ति है, दु:ख है, तो उसका बहुत बड़ा कारण यह है कि हम अपने कर्तव्य से भाग रहे हैं। स्वामी विवेकानंदजी ने सिंह गर्जना करते हुये कहा – 'Take the whole responsibilty on your own shoulder.'

अपने जीवन की सारी जवाबदारी अपने कंधे पर लो। यदि जीवन में सफल, सार्थक सुखी होना चाहते हो, तो यह करना ही पड़ेगा। अर्जुन भगवान से जब यह पूछते हैं कि भगवन्! यदि आपके अनुसार ज्ञानयोग श्रेष्ठ है तो मुझे इस कर्मयोग में क्यों फँसाते हैं? भगवान के प्रति उनके मन में श्रद्धा भी थी, इसलिये वे भगवान का अपमान नहीं करना चाहते थे। किन्तु भगवान यह जान जाएँ कि मैं डर रहा हूँ, यह भी वह नहीं चाहते थे।

तो आइये अब हम देखें कि तृतीय अध्याय के दूसरे श्लोक में अर्जुन की मानसिकता क्या है?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिंमोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। ३.२

(शेष पृष्ठ १४४ पर)
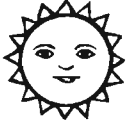
समय का सदुपयोग

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द
(अनुवादक – ब्रह्मचारी भवतोष चैतन्य)

आज के इस युग में, लोग धन और उससे खरीदी जाने वाली वस्तुओं को ही सर्वाधिक महत्त्व देने लगे हैं। वस्तुत: धन और उससे खरीदी जानेवाली वस्तुओं – दोनों का निर्माण मनुष्य ने ही किया है। परन्तु मनुष्य अपना स्वयं का मूल्य भूल गया है। इस जीवन के विषय में एक अन्य आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि मनुष्य और उसके द्वारा निर्मित धन नामक वस्तु – दोनों ही अल्पकालिक हैं। जिसमें इन दोनों का अस्तित्व और विनाश होता है, उस अल्प अवधि को समय कहते हैं। समय का कितना महत्त्वपूर्ण है। परन्तु समय की सार्थकता और मूल्य को बहुत कम लोग ही स्पष्ट रूप से समझते हैं। समय के महत्त्व को समझने के लिये हमें इस पर गहराई से चिन्तन करना होगा। केवल तभी हम अनुभव कर सकेंगे कि समय ही हमारी एकमात्र सम्पदा है।

व्यक्ति रात में भलीभाँति सोकर जब सुबह उठता है, तो उसे चौबीस घण्टे का एक अनमोल खजाना प्राप्त होता है। उसका बड़ी सावधानीपूर्वक उपयोग करके ही व्यक्ति जीवन में अपनी इच्छानुसार बहुत-कुछ अर्जित कर सकता है। समय इतनी अनमोल चीज है कि सिर्फ इसके उचित उपयोग से एक साधारण मनुष्य भी विश्वविजयी सम्राट् बन सकता है।

जो लोग जानना चाहते हैं कि समय का सदुपयोग कैसे किया जाय, उनके लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा रहे हैं –

१. सदा स्मरण रहे कि समय अतीव मूल्यवान वस्तु है।

२. इस कटु सत्य को स्वीकार करें कि बीता हुआ समय दुबारा लौटकर कदापि नहीं आता।

३. ''किसी विशेष समय पर जो कुछ भी करना आवश्यक है, उसे मैं निश्चित रूप से करूँगा'' – ऐसा दृढ़ संकल्प करें और उस पर अडिग रहें।

४. यदि आप हर काम उचित समय पर करने की आदत विकसित कर लें, तो इस कुशलता के फलस्वरूप आपको ऐसी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी कि अब मैं क्या करूँ, या यह कार्य समाप्त होने के बाद मुझे क्या करना होगा। इस प्रकार आप अपना बहुत-सा समय बचा सकते हैं।

५. आपके द्वारा इच्छित कार्य चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, उस कार्य के विषय को आपकी धारणा अत्यन्त स्पष्ट होनी चाहिए।

६. चाहे आप कोई भी कार्य करें, यदि उसे पूरे उत्साह तथा लगन के साथ नहीं करते, तो वह समय को व्यर्थ नष्ट करने के समान है – इस सीधी-सी बात को याद रखिये।

७. यदि आपसे कोई भूल हो गई हो, तो उसी का शोक मनाते रहने, स्वयं तथा दूसरों को कोसते रहने अथवा हताश होने की बजाय, यदि आप उस भूल को सुधारने के प्रयास में लग जाएँ अथवा अपने अगले कार्य में मन लगाएँ, तो इससे आप अपना बहुत-सा कीमती समय बचा सकते हैं।

८. जो व्यक्ति सही समय पर सही ढंग से सोचता है, जीवन में केवल वही सफल होता है।

समय के महत्त्व पर कुछ विचार

❖ कुछ लोग कहते हैं कि समय धन से भी अधिक मूल्यवान होता है। परन्तु सावधानीपूर्वक विचार करने पर हम देखते हैं कि दोनों ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि समय के सदुपयोग से धनोपार्जन और धन के सही व्यय से समय की बचत होती है। हमें आवश्यकता है, तो बौद्धिक सूझबूझ की, जिससे हम दोनों का सही उपयोग कर सकें।

❖ दिवास्वप्न देखनेवाले और हवाई किला बनानेवाले अपने समय की पूरी तौर से बरबादी करते हैं। परन्तु जो लोग पूर्णत: सजग हैं और सकारात्मक विचारों के द्वारा अपनी क्षमताओं का विकास करने की चेष्टा कर रहे हैं – वे ही अपने समय का लाभकारी रूप से उपयोग करते हैं।

❖ जो लोग जुआ, घुड़दौड़, सट्टेबाजी और लॉटरी में रुचि लेते हैं, उनका समय नष्ट होता रहता है, परन्तु जो लोग सार्थक कार्यों में लगे रहते हैं, वे अपने समय का लाभकारी ढंग से उपयोग कर रहे हैं।

❖ समाज में हमें भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोग दीख पड़ते हैं – कुछ मोटी बुद्धि के होते हैं, कुछ बुरी आदतों तथा सुख-भोगों की खोज में लगे रहते हैं और कुछ लोग हमेशा बीमार रहते हैं। कुछ लोग सर्वदा मुकदमेबाजी और कोर्ट-कचहरी में ही रुचि लेते रहते हैं। फिर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो तरह-तरह की सुविधाएँ पाने को सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाते रहते हैं। पानी जैसे पर्वत की ढलान से सहज तथा स्वाभाविक रूप से ही नीचे आ जाता है, वैसे ही इन लोगों के हाथ का समय भी अनायास ही निकलता जाता है।

❖ रुपये-पैसों का नुकसान होने पर हर व्यक्ति को पीड़ा होती है। वह अपनी हानि पर शोक मनाता है और उसकी भरपाई करने के लिये जी-तोड़ प्रयास करता है। परन्तु सौ में से एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा, जो अपने खोये हुए समय के लिये भी इसी प्रकार शोक मनाये।

❖ जो लोग अधिक समय पाने के आकांक्षी हैं, उन्हें चाहिए कि वे अपने नियत कार्य अधिक तत्परता तथा सावधानी

के साथ पूरा करें। इससे समय की काफी बचत हो जाती है। मान लीजिए कि कोई ८ घण्टे सोता है, तो उसे चाहिए कि वह एक घण्टा कम करके ७ घण्टे ही सोये। भोजन करने में यदि आपको २० मिनट लगते हैं, तो आप इसे १५ मिनट में भी समाप्त कर सकते हैं। ऐसे ही, यदि आपको नहाने में २० मिनट लगते हों, तो इसे १० मिनट में भी निपटाया जा सकता है। इस प्रकार आप अपने लिये बहुत-सा समय बचा सकते हैं। लेकिन यह भी जानना बड़ा आवश्यक है कि इस प्रकार बचाये गये समय का कैसे सदुपयोग किया जाय।

❖ अपनी सर्वज्ञता का ढोंग करनेवाले कुछ लोग कहेंगे – "हमें समय बचाने की जरूरत ही क्या है? समय बचाने से हमें मिलेगा क्या?" ठीक हैं, वे जो कुछ कहते हैं, कहने दीजिए। पर जो लोग अपने समय को बचाकर उसे सार्थक कार्यों में लगाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे लोगों से पर्याप्त दूरी बनाये रखना चाहिये।

❖ भुलक्कड़पन (भूलने की बीमारी) समय की बरबादी में एक बड़ी भूमिका निभाती है। एक व्यक्ति ने अपने कमरे में ताला लगाया और दूर रहनेवाले मित्र से मिलने गया। मित्र के साथ उसने हँसी-खुशी के साथ काफी समय बिताया और स्वादिष्ट भोजन करने के बाद वह अपने घर लौटा। परन्तु उसने ज्योंही अपने कमरा खोलने का प्रयास किया, तो पता चला की चाबी ही नहीं मिल रही है! सोचने लगा, "अरे, चाबी तो खो गई! वह कहाँ हो सकती है?" – "हाँ, याद आया – मैंने तो उसे मित्र के भोजन-कक्ष में रखे हुए फ्रिज के ऊपर रख दी थी! उसे चाबी को वापस लाने के लिए दुबारा इतनी दूर जाना पड़ा। उसका इतना समय अकारण ही बरबाद हुआ।

कुछ लोग स्थायी रूप से 'भुलक्कड़पन' के रोग से ग्रस्त रहते हैं। सम्भव है कि उसने अभी-अभी भरपेट खाया है, परन्तु वह अगले ही क्षण भूल जाता है और दुबारा भरपेट खाना चाहता है! बहुत-से लोग रुपयों की जरूरत पड़ी, तो उन्हें तुरन्त किसी मित्र की याद आ जाती है और वे उधार माँगने उसके पास पहुँच जाते हैं। परन्तु जब उस कर्ज को चुकाने का समय आता है, तो वे उस ऋण और मित्र – दोनों को ही पूरी तौर से भूल जाते हैं! ऐसे भुलक्कड़पन को 'जान-बूझकर भूलना' या 'लाभकारी भूलना' कहा जा सकता है।

आदमी भूलता क्यों है? इसके कई कारण हो सकते हैं, पर मुख्य है – abscent-mindedness (अन्य-मनस्कता)।

अब इस अन्य-मनस्कता से कैसे छुटकारा पाया जाय? आत्म-विश्लेषण और स्व-सुझाव के द्वारा। हम अपने आपको क्या सुझाव दें? – *"देख मन, यदि तू इसी तरह भूलता रहा, तो कभी किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलेगी। कदम-कदम पर तू अपने द्वारा ही खड़ी की गयी बाधाओं में उलझता जायेगा। अत: अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में सजग रहने की आदत डाल। जरा सोचने की चेष्टा कर – यदि तू थोड़ा अधिक सावधान रहा, अपने विषय में पहले से थोड़ा अधिक सचेत रहा, तो तुझे कितना लाभ होगा और तू कितनी अधिक उन्नति करेगा!"*

किसी को एक महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेने बैंगलोर से बम्बई जाना था। उसने सावधानीपूर्वक यात्रा के लिये आवश्यक – सूटकेस, पानी की बोतल, फल, बिस्किट आदि सभी वस्तुओं की व्यवस्था कर ली। पैकिंग हो जाने के बाद सब कुछ ठीक-ठाक लग रहा था। आखिरकार उसे स्टेशन ले जाने के लिये जब आटोरिक्शा आया, तो तत्काल अपना सारा सामान उठाया और स्टेशन की ओर रवाना हो गया। वहाँ पहुँचकर वह अपने निर्धारित ट्रेन में प्रविष्ट हो गया और खिड़की के पास की सीट पर बैठ गया। ट्रेन ठीक समय पर छूटी। वह अपने पास की खिड़की से बाहर के दृश्यों का रसास्वादन करने लगा। चलती हुई ट्रेन से मानो दूर भागते हुए उप-नगरीय तथा और ग्रामीण अंचल चलचित्र जैसे दीख रहे थे। नगर के भवनों को देखने की अभ्यस्त उसकी आँखें गाँवों में फैली हरियाली का भोग कर रही थीं। प्रकृति की मनोहारिता और हरे-भरे ग्राम्य-परिवेश – उसके मन को मानो एक तरह से तरो-ताजा आनन्द की अनुभूति करा रहे थे।

वह इसी प्रकार कल्पनाओं के पंख लगाए मानो एक स्वप्न-जगत् में उड़ा जा रहा था कि तभी एक कर्कश आवाज ने उसकी एकाग्रता को भंग कर दिया। यह टिकिट-निरीक्षक की चिर-परीचित आवाज थी, जो बहुत से भूले-भटके यात्रियों को वास्तविक जगत् का भान करा देती है। अब इन सज्जन ने अपनी टिकट निकालने के लिये जेब में हाथ डाला। वह बड़बड़ा उठा – "टिकट! ... लगता है दूसरी जेब में है। ... अरे नहीं, लगता है मैंने उसे सूटकेस में रखा है! हे भगवान! यह क्या हुआ! सर, टिकट तो मैं घर ही भूल आया। मैंने उसे बड़ी सावधानी से अलमारी में रखा था, पर स्टेशन पहुँचने की हड़बड़ी में मैं उसे वहीं भूल आया। महाशय, मुझे माफ कीजिए, मैं बड़ा शर्मिन्दा हूँ।"

टिकट-निरीक्षक ने रुखाई के साथ कहा – "अपने इतने वर्षों के अनुभव में मैंने तुम्हारे जैसे बहुत-से लोग देखे हैं। तुम्हारी माफी-वाफी बिल्कुल नहीं चलेगी। समझे या नहीं?"

– "महाशय, कृपया मेरी बात पर विश्वास करें, टिकट मैं सचमुच ही घर भूल आया हूँ।"

– "क्या तुम समझते हो कि मैं ऐसे बहानों में आकर तुम्हें छोड़ दूँगा? नौकरी के बीस साल मैंने यों ही नहीं गुजारे हैं। या तो तुम्हें दण्ड भरना होगा, और नहीं तो अगले

स्टेशन पर गाड़ी से उतर जाना होगा। तुम्हारी इन चालबाजियों का मुझ पर कोई भी असर नहीं होने वाला है।''

उस बेचारे के पास जुर्माना भरने के लिये पर्याप्त पैसे नहीं थे। अत: लाचार होकर उसे अगले स्टेशन पर उतरना पड़ा।

तथापि उसे एक अन्य प्रकार से दण्ड भरना पड़ा, क्योंकि उसे बम्बई जानेवाली अगली गाड़ी के लिये दुबारा टिकट खरीदनी पड़ी; और जब वह बम्बई पहुँचा, तब तक वह महत्त्वपूर्ण बैठक प्राय: समाप्ति की ओर थी। जरा-सी लापरवाही के लिए उसे इतनी भारी कीमत चुकानी पड़ी – बम्बई पहुँचकर भी वह बैठक में शामिल न हो सका! बैंगलौर से बम्बई तक की यह महँगी यात्रा उसके लिये व्यर्थ सिद्ध हुई।

बहुधा अचानक ही ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जिनमें हमारा बहुत-सा समय बरबाद हो जाता है। यथा, यात्रा के दौरान, लाइन में प्रतीक्षा करते समय, किसी का इन्तजार करते समय अथवा स्कूल-कॉलेजों में किसी क्लास की छुट्टी हो जाने पर हमारा कितना समय व्यर्थ चला जाता है!

बस या ट्रेन में यात्रा के दौरान यदि आपको खिड़कीवाली सीट मिलती है, तो आप बड़े आनन्दपूर्वक अपना समय बाहर के मनोरम दृश्यों को देखने में बिता सकते हैं। ग्राम्य जीवन का शान्त परिवेश तथा प्रकृति-माता के सुहावने दृश्य आपको विभोर कर सकते हैं। यदि हमारा मन आध्यात्म-प्रवण है, तो आप यह समय भगवान का नाम जपने या कोई भजन गुनगुनाते हुए बिता सकते हैं। कुछ ऐसे भाग्यशाली लोग हैं, जिन्हें बस या रेल-यात्रा के दौरान बड़ी अच्छी नींद आती है; उनके लिए सोना ही समय का सर्वोत्तम उपयोग है। हवाई-यात्रा के समय विमान के बहुत ऊँचाई पर उड़ने के कारण नीचे के दृश्य प्राय: नहीं दिखाई देते, ऐसे समय किसी पुस्तक को पढ़ने में डूब जाना काफी लाभकर है।

किसी लम्बी कतार में अपनी बारी का इन्तजार करते समय, यदि आसपास अपने स्वभाव के अनुकूल कोई व्यक्ति मिल जाय, तो उसके साथ किन्हीं उपयोगी विषयों पर चर्चा की जा सकती है। या फिर अपने पढ़े या सुने हुए विषयों को दुहराया जा सकता है। या आप धर्मग्रन्थों की उक्तियों या उत्तम विचारों पर गहराई से चिन्तन कर सकते हैं। कभी-कभी आप किसी व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं, उस समय मन में बारम्बार विचार उठता रहता है – अरे, वह अभी तक आया क्यों नहीं? परन्तु ऐसी बेचैनी बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि हमारी व्यग्रता का उस व्यक्ति के आगमन पर कुछ भी परिणाम नहीं होता। फिर हो सकता है कि किसी विशेष कारणवश उसके आने में विलम्ब हो रहा हो, जो हमारे लिये अकल्पनीय है। या फिर सम्भव है कि किसी अपरिहार्य कारणवश उसका उस दिन आना ही न हो सके। जरा सोचकर देखिये कि इस प्रकार लगातार चिन्ता से हमारे कितने समय का अपव्यय हुआ। इससे समय तथा ऊर्जा की कैसी बरबादी हुई! ठीक है, प्रतीक्षा करना जीवन का एक अपरिहार्य दोष है, इससे पूरी तौर से बचा नहीं जा सकता। प्रतीक्षा तो हमें करनी ही पड़ती है, परन्तु हम इसके द्वारा चिन्ता तथा बेचैनी में अपनी ऊर्जा न गवाएँ। हमें ऐसी अपरिहार्य परिस्थितियों में नष्ट होनेवाली ऊर्जा को बचाकर किसी सार्थक तथा रचनात्मक कार्य में लगाना होगा।

छात्रों के जीवन में अनेक प्रकार से समय का अपव्यय होते देखा जाता है; जैसे कि स्कूल-कॉलेजों की कक्षाओं से मिलनेवाली आकस्मिक छुट्टियाँ। थोड़ी-सी तैयारी तथा सूझबूझ के द्वारा बड़ी आसानी से अप्रत्याशित रूप से प्राप्त इस अवकाश के समय का काफी लाभ उठाया जा सकता है।

उपर्युक्त चर्चा में केवल कुछ ही ऐसे सुझाव या संकेत दिये गए हैं, जिन्हें अपनाकर हम – सहसा ही प्राप्त होनेवाले और निश्चित रूप से नष्ट हो जानेवाले बिखरे हुए क्षणों का अच्छा उपयोग कर सकते हैं। हर व्यक्ति को अपनी स्वयं की बुद्धि लगाकर ऐसे उपाय खोज निकालने होंगे, जिनके द्वारा वह अपने समय का रचनात्मक उपयोग कर सके। ऊपर कही गयी बातों का उद्देश्य – आपको इस तथ्य के प्रति सचेत करना मात्र है कि यदि आपने अपने समय का उचित रूप से उपयोग नहीं किया, तो वह आपके हाथों से निकलकर आपको आजीवन पछताने के लिये छोड़ जायेगा। यदि आप सचमुच अपने जीवन के प्रति गम्भीर हैं, तो अपने समय के सार्थक उपयोग के द्वारा बहुत-कुछ हासिल कर सकते हैं।

हम बहुधा Man-hour (श्रम-घण्टा) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के पीछे एक महान् धारणा निहित है। अधिकांश लोग Man-power (श्रम-शक्ति) के विषय में जानते हैं। परन्तु क्या आपने कभी Man-hour (श्रम-घण्टा) के बारे में सोचा है? इस शब्द का क्या अर्थ हो सकता है? यह तो सभी मानते हैं कि हर मनुष्य को प्रतिदिन २४ घण्टे की एक अमूल्य निधि प्राप्त है। इस दुनिया के करोड़ों लोग रात-दिन अपने-अपने समय का उपयोग करते रहते हैं, फिर भी एक पूरे दिन का कुल समय २४ घण्टों का ही होता है। अब हम इस पर थोड़ा गहराई से विचार करें – यदि एक व्यक्ति के पास एक दिन के २४ घण्टे हैं, तो दो लोगों के पास ४८ घण्टे और इसी तरह १०० व्यक्तियों के पास २४०० घण्टे होते हैं। अत: यदि किसी कार्यक्रम में जहाँ १००० लोग उपस्थित हैं और मुख्य अतिथि या माननीय मंत्री महोदय एक घण्टा देरी से आते हैं, तो यह स्पष्ट है कि मुख्य अतिथि महोदय ने वस्तुत: १००० घण्टे नष्ट कर डाले। बात भले ही थोड़ी अटपटी लगे, परन्तु यह सत्य है। विश्व में सर्वत्र और सर्वदा इसी तरह बड़े पैमाने पर समय

(शेष पृष्ठ १४२ पर)

कठोपनिषद्-भाष्य (१५)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनको जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्यम् – अन्यथा दुर्विज्ञेयः अयम् आत्मा कामिभिः प्राकृत-पुरुषैः यस्मात् –

भाष्यानुवाद – दूसरी ओर, कामनाओं से युक्त सामान्य जन के लिये इस आत्मा को जानना अति कठिन है, क्योंकि –

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।। २१ (५०)

अन्वयार्थ – (जो आत्मा) **आसीनः** बैठे रहकर भी **दूरम् व्रजति** दूर चला जाता है; **शयानः** निद्रा में भी **सर्वतः** सर्वत्र **याति** चला जाता है; **तम्** उस **मद-अमदम्** हर्ष तथा हर्षरहित **देवम्** ज्योतिर्मय आत्मा को **मत्-अन्यः** हम जैसे ज्ञानी के सिवाय अन्य **कः** कौन **ज्ञातुम्** जानने में **अर्हति** समर्थ है !

भावार्थ – (जो आत्मा) बैठे (अचल) रहकर भी दूर चला जाता है; निद्रा के समय भी सर्वत्र चला जाता है; इस हर्ष तथा हर्षरहित प्रकाशमान आत्मा को जानने में हमारे समान ज्ञानी के अतिरिक्त दूसरा कौन समर्थ है !

भाष्यम् – आसीनो अवस्थितः अचल एव सन् दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः, एवम् असौ आत्मा देवो मदामदः समदः अमदः च सहर्षः अहर्षः च विरुद्ध-धर्मवान्, अतः अशक्यत्वात् ज्ञातुं कः तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।

अनुवाद – (वह आत्मदेव) स्थित या अचल रहते हुए भी दूर चला जाता है, शयन करते हुए भी सर्वत्र चला जाता है। वैसे ही वह हर्षयुक्त तथा हर्षरहित जैसे परस्पर-विरुद्ध धर्मवाला है, अत: जानने में कठिन होने के कारण, इसे जानने में मेरे सिवा दूसरा कौन समर्थ है !

अस्मद्-आदेः एव सूक्ष्म-बुद्धेः पण्डितस्य विज्ञेयः अयम् आत्मा स्थिति-गति-नित्य-अनित्य-आदि-विरुद्ध-अनेक-धर्म-उपाधिकत्वात् विरुद्ध-धर्मवान् विश्वरूप इव चिन्तामणिवत् अवभासते । अतः दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति – कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हति इति ।

जैसे विश्वरूप मणि (प्रिस्म) या चिन्तामणि (पारस पत्थर) में विपरीत रंग या गुण भासित होते हैं, वैसे ही यह आत्मा (भी) स्थिति-गति, नित्य-अनित्य आदि परस्पर-विपरीत गुणों रूपी उपाधियों वाला होने के कारण, यह हम जैसे सूक्ष्म बुद्धिवाले विद्वानों द्वारा ही जानने योग्य है।

करणानाम् उपशमः शयनम् । करण-जनितस्य एकदेश-विज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवल-सामान्य-विज्ञानत्वात् सर्वतः यात-इव, यदा विशेष-विज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन् मन-आदि-गतिषु तत् -उपाधिकत्वात् दूरं व्रजति इव । स च इह एव वर्तते ।।

करणों अर्थात् इन्द्रियों का शान्त हो जाना ही शयन है। एक सोते हुए व्यक्ति का इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न एकदेशीय ज्ञान शान्त हो जाता है। ऐसी अवस्था (निद्रा) में, उसकी केवल सामान्य चेतना होने के कारण वह सर्वत्र जाता हुआ (या उपस्थित) प्रतीत होता है। (और) जब वह विशेष चेतना की अवस्था में रहता है, तब अपने स्वरूप से स्थिर होते हुए भी, मन आदि उपाधियों से युक्त होकर मानो दूर चला जाता है। (तब वस्तुत:) वह यहीं (शरीर में) रहता है ॥ २१ (५०)॥

* * *

तत्-विज्ञानात् च शोक-अत्ययः इति अपि दर्शयति –

अब यह दिखाते हैं कि उस विशेष ज्ञान से शोक अर्थात् सारे दु:खों का नाश हो जाता है –

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।२२।।

अन्वयार्थ – **शरीरेषु** विविध देहों में **अशरीरम्** अशरीरी के रूप में विद्यमान है, **अनवस्थेषु** अनित्य वस्तुओं के भीतर **अवस्थितम्** नित्य के रूप में विद्यमान है, **महान्तम्** महान् **विभुम्** सर्वव्यापी **आत्मानम्** आत्मा को **मत्वा** (अपना स्वरूप) जानकर **धीरः** धीर व्यक्ति **न शोचति** शोक नहीं करता।

भावार्थ – (यह आत्मा) विविध देहों में अशरीरी के रूप में विद्यमान है, अनित्य वस्तुओं के भीतर नित्य के रूप में विद्यमान है, इस महान् सर्वव्यापी आत्मा को (अपना स्वरूप) जानकर धीर (विवेकावान) व्यक्ति शोक नहीं करता।

भाष्यम् – अशरीरं स्वेन रूपेण आकाश-कल्प आत्मा, तम् अशरीरं शरीरेषु देव-पितृ-मनुष्य-आदि-शरीरेषु अनवस्थेषु अवस्थिति-रहितेषु अनित्येषु अवस्थितं नित्यम् अविकृतम् इति एतत् ।

भाष्य-अनुवाद – आत्मा अपने स्वरूप से आकाश के तुल्य है। वह अशरीरी आत्मा देवों, पितरों, मनुष्यों आदि के

अनित्य (परिवर्तनशील) शरीरों में नित्य (अचल) तथा अविकारी रूप से स्थित रहता है।

महान्तम् महत्त्वस्य आपेक्षिकत्व-शङ्कायाम् आह – विभुं व्यापिनम् आत्मानम्; आत्म-ग्रहणं स्वतः अनन्यत्व-प्रदर्शनार्थम्। आत्म-शब्दः प्रत्यगात्म-विषय एव मुख्यः।

वह महान् है; और कहीं उसके महानता को आपेक्षिक न समझ लिया जाय, इस आशंका से कहते हैं – वह आत्मा विभु अर्थात् व्यापक है। यहाँ 'आत्मा' शब्द का प्रयोग (ब्रह्म के साथ) उसका एकत्व दिखाने के लिये है। क्योंकि 'आत्मा' शब्द मुख्यत: अन्तरात्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

तम् ईदृशम् आत्मानं मत्वा अयम् अहम् इति, धीरः धीमान् न शोचति। न हि एवंविध-स्व-आत्मविदः शोक-उपपत्तिः।

ऐसे स्वरूपवाले आत्मा को 'यही मैं हूँ' – ऐसा अनुभव करके धीर अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति शोक नहीं करता। क्योंकि ऐसे आत्मविद् को शोक होना सम्भव नहीं है॥ २२ (५२)॥

* * *

यद्यपि दुर्विज्ञेयः अयम् आत्मा, तथापि उपायेन सुविज्ञेयः एव इत्याह –

अब बताते हैं कि यद्यपि इस आत्मा की अनुभूति अति कठिन है, तो भी उचित उपाय के द्वारा यह सहज-बोध्य है –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥२३॥

अन्वयार्थ – **अयम्** यह **आत्मा** आत्मा **प्रवचनेन** वेदों का बहुत अध्ययन के द्वारा **न लभ्यः** प्राप्त करने योग्य नहीं है, **न मेधया** ग्रन्थों की धारणा-शक्ति के द्वारा भी नहीं (और) **बहुना** बहुत **श्रुतेन** शास्त्र-श्रवण के द्वारा **न** (प्राप्तव्य) नहीं है। **एषः** यह (आत्मा) **यम् एव** जिस (साधक) पर ही **वृणुते** कृपा करती है, **तेन** उसी के द्वारा **लभ्यः** प्राप्त करने योग्य है। **तस्य** उसके समक्ष **एषः** यह **आत्मा** आत्मा **स्वाम्** अपने **तनूम्** पारमार्थिक स्वरूप को **विवृणुते** प्रकट करती है।

भावार्थ – यह आत्मा वेदों का बहुत अध्ययन के द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं है, ग्रन्थों की धारणा-शक्ति के द्वारा भी नहीं (और) बहुत शास्त्र-श्रवण के द्वारा (प्राप्तव्य) नहीं है। यह (आत्मा) जिस (साधक) पर ही कृपा करती है, उसी के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। उसके समक्ष यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्रकट करती है।

भाष्यम् – न अयम् आत्मा प्रवचनेन अनेक-वेद-स्वीकरणेन लभ्यः ज्ञेयः; न अपि मेधया ग्रन्थ-अर्थ-धारण-शक्त्या; न बहुना श्रुतेन केवलेन।

भाष्य-अनुवाद – इस आत्मा को, न तो प्रवचन अर्थात् अनेक वेदों को आयत्त करके प्राप्त किया अर्थात् जाना जा सकता है; न ही मेधा अर्थात् ग्रन्थों के अर्थ धारण करने की क्षमता के द्वारा जाना जा सकता है और न केवल बहुत सुनने के द्वारा ही जाना जा सकता है।

केन तर्हि लभ्यः इति, उच्यते –

तो फिर कैसे जाना जा सकता है, यही बताते हैं –

यम् एव स्वम् आत्मानम् एष साधकः वृणुते प्रार्थयते, तेन एव आत्मना वरित्रा स्वयम् आत्मा लभ्यः ज्ञायते एवम् इत्येतत्। निष्कामस्य आत्मानम् एव प्रार्थयते, आत्मना एव आत्मा लभ्यते इत्यर्थः।

यह साधक अपनी जिस आत्मा से प्रार्थना करता है, उसी आत्मा के द्वारा, जो कि प्रार्थी स्वयं ही है, वह आत्मा को जान सकता है कि वह ऐसा-ऐसा है। तात्पर्य यह कि जो कामनाहीन व्यक्ति केवल आत्मा को ही चाहता है, उसे आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि हो जाती है।

कथं लभ्यते? इति उच्यते –

कैसे उपलब्धि हो जाती है, अब यही बताते हैं –

तस्य आत्मकामस्य एष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयं स्व-याथात्म्यम् इत्यर्थः॥

यह आत्मा उस आत्म-अभिलाषी के समक्ष अपने पारमार्थिक शरीर अर्थात् वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित कर देता है॥

* * *

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने॥२८८॥

अन्वय – घटाकाशं महाकाशे इव आत्मानं परात्मनि अखण्ड-भावेन विलाप्य, (हे) मुने, सदा तुष्णीं भव।

अर्थ – हे मुनि, जैसे (घड़ा टूटने पर उसमें स्थित) घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है, वैसे ही अपनी आत्मा को परमात्मा में अखण्ड रूप से विलीन करके तुम सदा-सर्वदा के लिये मौन – शान्त हो जाओ।

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्॥२८९

अन्वय – सत्-आत्मना स्व-प्रकाशम् अधिष्ठानं स्वयंभूय ब्रह्माण्डं अपि पिण्डाण्डं मल-भाण्डवत् त्यज्यताम्।

अर्थ – अपने सत्स्वरूप आत्मा के ज्ञान द्वारा, अपने स्वप्रकाश अधिष्ठान को अपना स्वरूप जानकर, अपने शरीर तथा ब्रह्माण्ड – दोनों को ही मलपात्रों के समान त्याग दो।

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ।।२९०।।

अन्वय – देह-आरूढां अहम्-धियम्, चिद्-आत्मनि सदानन्दे निवेश्य, लिङ्गम् उत्सृज्य सर्वदा केवलः भव ।

अर्थ – स्थूल शरीर में जो अहं-बुद्धि है, उसे अपने सदानन्दमय चैतन्य-स्वरूप में निविष्ट करके, लिंग अर्थात् सूक्ष्म शरीर में भी अहंता को त्यागकर सर्वदा कैवल्य अर्थात् अद्वैत-स्वरूप में स्थित रहो ।।

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ।।२९१।।

अन्वय – यथा दर्पण-अन्तः पुरम्, यत्र एषः जग-आभासः – तद् ब्रह्म अहम् – इति ज्ञात्वा कृतकृत्यः भविष्यसि ।

अर्थ – जैसे दर्पण में नगर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही जिस वस्तु में यह जगत् आभासित हो रहा है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ – यह जानकर तुम कृतकृत्य (धन्य) हो जाओगे अर्थात् तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहेगा ।।

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं
चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम् ।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजेत
शैलूषवद्वेषमुपात्तमात्मनः ।।२९२।।

अन्वय – यत् चिद्-अद्वय-आनन्दं अरूपं अक्रियम् सत्यभूतं आद्यं निजरूपम्, तद् एत्य, आत्मनः उपात्तं वेषं शैलूषवत् मिथ्या-वपुः उत्सृजेत ।

अर्थ – जैसे अभिनेता (नाटक सम्पन्न हो जाने के बाद) अपने धारण किये हुए वेश को त्याग देता है; वैसे ही तुम भी अपने चैतन्य, अद्वय, आनन्दमय, निराकार, निष्क्रिय वास्तविक आद्य स्वरूप को जानकर, अपने इस शरीर रूपी मिथ्या वेश का परित्याग कर दो ।

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव
नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात् ।
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः
कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिध्येत् ।।२९३।।

अन्वय – इदं दृश्यं सर्वात्मना मृषा एव, क्षणिकत्व-दर्शनात् अहम् अर्थः न एव, क्षणिकस्य अहम् आदेः 'अहं सर्वं जानामि' इति प्रतीतिः कुतः सिध्येत्?

अर्थ – यह दृश्य (शरीर) पूरी तौर से मिथ्या ही है । अहम् में क्षणिकत्व दीख पड़ने के कारण वह सत्य नहीं है । अहं-विषयक 'मैं सब जानता हूँ' – ऐसा बोध क्षणिक होने के कारण भला कैसे सत्य सिद्ध हो सकता है?

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी
नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।
ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं
तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः।।२९४।।

अन्वय – तु अहं-पदार्थः अहम्-आदि-साक्षी, सुषुप्तौ अपि नित्यं भाव-दर्शनात् हि, अजः नित्यः इति श्रुतिः स्वयं ब्रूते । तत् प्रत्यग्-आत्मा सद्-असद्-विलक्षणः ।

अर्थ – परन्तु शुद्ध आत्मा अहंकार का आदि साक्षी है । सुषुप्ति में भी उसके (साक्षी-रूप में) उपस्थित होने के कारण वह नित्य है, इसीलिये स्वयं श्रुति ही उसे अजन्मा तथा नित्य करती है । अतः वह अन्तरात्मा सत् (सूक्ष्म-कारण) तथा असत् (स्थूल-कार्य) से विलक्षण है ।

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता
नित्याविकारो भवितुं समर्हति ।
मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं
पुनः पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः।।२९५।।

अन्वय – विकारिणां सर्व-विकार-वेत्ता नित्य-अविकारः भवितुं सम्-अर्हति । मनोरथ-स्वप्न-सुषुप्तिषु एतयोः असत्त्वं स्फुटं पुनः पुनः दृष्टम् ।

अर्थ – (स्थूल, सूक्ष्म आदि) समस्त विकारी (परिवर्तनशील) वस्तुओं का द्रष्टा और जाननेवाला – स्वयं नित्य अपरिवर्तनशील ही होना चाहिये । जाग्रत अवस्था की कल्पना, स्वप्न तथा सुषुप्ति में बारम्बार इन (स्थूल तथा सूक्ष्म) दोनों शरीरों का अभाव स्पष्ट रूप से देखने में आता है ।

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे
पिण्डाभिमानिन्यपि बुद्धिकल्पिते ।
कालत्रयाबाध्यमखण्डबोधं
ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ।।२९६।।

अन्वय – अतः बुद्धि-कल्पिते मांस-पिण्डे पिण्ड-अभिमानिनि अपि अभिमानं त्यज । अखण्ड-बोधं काल-त्रय-अबाध्यम् स्वं आत्मानं ज्ञात्वा शान्तिं उपैहि ।

अर्थ – इसलिये बुद्धि द्वारा कल्पित इस (स्थूल शरीर रूपी) मांसपिण्ड में अभिमान को त्याग दो; और तीनों काल में अबाधित रूप से चलने वाले अखण्ड-बोध को अपना आत्म-स्वरूप जानकर परम शान्ति को प्राप्त कर लो ।

त्यजाभिमानं कुलगोत्रनाम-
रूपाश्रमेष्वार्द्रशवाश्रितेषु ।
लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादीं-
स्त्यक्त्वा भवाखण्डसुखस्वरूपः ।।२९७।।

अन्वय – आर्द्र-शव-आश्रितेषु कुल-गोत्र-नाम-रूप-आश्रमेषु अभिमानं त्यज, लिङ्गस्य कर्तृता-आदीन् धर्मान् अपि त्यक्त्वा अखण्ड-सुख-स्वरूपः भव ।।

अर्थ – भीगे हुए शव के सदृश स्थूल शरीर का आश्रय लेकर विद्यमान कुल, गोत्र, नाम, रूप, आश्रम आदि के अभिमान को त्यागो; और लिंग या सूक्ष्म शरीर के कर्तापन, भोक्तापन आदि धर्मों (उपाधियों) का त्याग भी करके अपने अखण्ड सुख-स्वरूप में स्थित हो जाओ । ❖ **(क्रमशः)** ❖

बेलूड़ मठ स्थित रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति की वार्षिक रिपोर्ट (२०१०-११)

रामकृष्ण मिशन की १०२ वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में रविवार ११ दिसम्बर, २०११ को अपराह्न ३.३० बजे सम्पन्न हुई। भगवान श्रीरामकृष्ण का १७५ वाँ जन्मतिथि-महोत्सव मुख्यालय तथा अनेक शाखा-केन्द्रों के द्वारा बड़ी धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर जम्मू केन्द्र ने "श्रीरामकृष्ण-वचनामृत" ग्रन्थ का उर्दू भाषा में संक्षिप्त अनुवाद "श्रीरामकृष्ण के इकबाल-ए-जरीन" नाम से प्रकाशन किया।

शैक्षणिक क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं : (१) कोयम्बतूर केन्द्र में (क) तमिलनाडु सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम के तहत तेरह शिल्पों (ट्रेडों) में एक स्वल्पकालीन मॉडुलर रोजगार शिल्प (Modular Employable Skills) प्रशिक्षण तथा (ख) भारत सरकार के पहल पर इन्डो-जिम्बाब्वे टूल-रूम (Tool Room) हरारे इंस्टिट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, जिम्बाब्वे के प्रशिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण-कार्यक्रम की शुरुआत : (२) विवेकानन्द विश्वविद्यालय के बेलूड़ स्थित मुख्य परिसर में पर्यावरण एवं आपदा-प्रबन्धन (Environment And Disaster Management) तथा सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञान (Theoretical Physics) पर पी.एच.डी. पाठ्यक्रम और नरेन्द्रपुर में कृषि-जैव-प्रौद्योगिकी (Agricultural Bio-Technology) पर द्वि-वर्षीय एम.एस.सी पाठ्यक्रम की शुरुआत (३) नरेन्द्रपुर केन्द्र के लोकशिक्षा परिषद द्वारा दक्षिण २४ परगना जिले के बरुइपुर में मध्याह्न आहार तथा वृत्ति-सहित शिशु-श्रम विद्यालय की शुरुआत।

चिकित्सा क्षेत्र में इस वर्ष की निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं – नई दिल्ली केन्द्र के टी.बी. क्लीनिक में राजयक्ष्मा रोगियों के इलेक्ट्रॉनिक प्रबन्धन पर एक प्रारम्भिक योजना, कानपुर केन्द्र के दातव्य चिकित्सालय में फिजियोथेरापी विभाग, राँची सेनेटोरियम केन्द्र में २० शय्याओं वाले प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, गड़बेता केन्द्र के दातव्य चिकित्सालय में एक नेत्र-ऑपरेशन-थियेटर तथा नारायणपुर (छत्तीसगढ़) में दन्त-चिकित्सा यूनिट और फिजियोथेरापी यूनिट का शुभारम्भ।

ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं – लिमड़ी (गुजरात) केन्द्र द्वारा विभिन्न गाँवों में ११ तालाबों तथा राँची (मोराबादी) केन्द्र द्वारा सिल्ली ब्लॉक में २३ तालाबों की खुदाई, नरेन्द्रपुर केन्द्र के लोक-शिक्षा-परिषद विभाग द्वारा कई कार्यक्रमों का शुभारम्भ, यथा – भारतीय गीर प्रजाति के गायों के संरक्षण के लिए परियोजना, ग्रामीण युवाओं तथा मिल्क फेडरेशन के सदस्यों के लिये एक डेयरी उद्योग प्रशिक्षण प्रकल्प, पूर्व तथा पश्चिम मेदिनीपुर और दक्षिण चौबीस परगना जिलों के ग्रामीण किसानों के लिए १० मिट्टी निरीक्षण प्रयोगशाला का निर्माण।

इस दौरान रामकृष्ण मठ द्वारा पश्चिम बंगाल के नावरा में एक शाखा-केन्द्र तथा कोलकाता के बलराम मन्दिर केन्द्र के अन्तर्गत श्यामपुकुर-बाटी में एक उपकेन्द्र आरम्भ किया गया।

रामकृष्ण मठ के अन्तर्गत निम्नलिखित नयी गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं – तिरुअनन्तपुरम् केन्द्र में एक सघन चिकित्सा विभाग (Critical Care Unit) तथा हृदय-रोग-चिकित्सा विभाग (Cardiology Clinic) का शुभारम्भ, चेन्नै मठ-केन्द्र द्वारा सेल काउन्टर, एक्स-रे यूनिट तथा नेत्र विभाग की शुरुआत, राजकोट केन्द्र में नेत्र-चिकित्सा विभाग की शुरुआत, घाटशिला केन्द्र द्वारा एक चल-चिकित्सा इकाई तथा राजकोट केन्द्र द्वारा पिछड़े (सपेरों तथा मदारी जाति) के लोगों के लिए ६० मकान तथा शौचालय बनवाये गये।

(अगले पृष्ठ पर जारी)

पृष्ठ १३८ का शेषांश

की हत्या होते हुए देख पाते हैं। और ऐसे लोगों के बारे में क्या कहा जाय, जो समय का जरा भी सम्मान नहीं करते और आजीवन समय की हत्या करने में लगे रहते हैं। शोक की बात यह है कि समय उन्हें निगल जाता है और उन्हें चूसकर एक तरह से खोखला बना देता है। इसलिये समय निकल जाय, आइये इसके पहले ही हम जाग जाएँ।

हम समय का आदर करना शुरू करें; अपनी व्यावहारिक बुद्धि को काम में लायें, भलीभाँति योजना बनायें, समय का समुचित तथा भलीभाँति उपयोग करें और जीवन द्वारा उपलब्ध कराये गये निर्धारित समय का सर्वाधिक लाभ उठायें। अत: यह जरूरी है कि हम समय पर अपनी पकड़ बनाने के उचित तरीके ढूँढ़ निकालें। जीवन में कुछ भी उल्लेखनीय तथा उत्कृष्ट उपलब्धि हासिल करने का यही एकमात्र उपाय है – महान् बनने का यही एकमात्र मार्ग है। ❑❑❑

विदेशों में – (क) सिंगापुर केन्द्र के सारदा बाल-विहार ने MOE (शिक्षण मन्त्रालय) तथा AECES (Association of Early Childhood Educators, Singapore) द्वारा प्रदान किये जानेवाले तीन प्रशंसनीय पुरस्कार जीते, (ख) डरबन केन्द्र (दक्षिण अफ्रिका) द्वारा लेडी-स्मिथ में कृषि परियोजना तथा फॉरेस्ट-हेवेन में एक दन्त-चिकित्सा यूनिट का शुभारम्भ, (ग) साओ पाओलो (ब्राजील केन्द्र) ने निजी प्रकाशन विभाग का शुभारम्भ और कुछ गरीब परिवारों को पुष्टिकर मुख्य खाद्य द्रव्यों का वितरण किया, (घ) जापान केन्द्र ने 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' का संक्षिप्त अनुवाद और स्वामी विवेकानन्द तथा उपनिषदों पर कुछ ग्रन्थों का जापानी भाषा में प्रकाशन किया, (ङ) अर्जेंटीना केन्द्र ने मानसिक विकलांग लोगों की सहायता -कार्यक्रम की शुरुआत की और स्पैनिश भाषा में Ma Argentina y sus argentinos (माँ अर्जेंटीना यु सुस अर्जेंटीनियोस) शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया और (च) हबीबगंज (बंगलादेश) केन्द्र ने एक बाल-विहार का शुभारम्भ किया।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने ३ करोड़ ४३ लाख रुपये खर्च कर देश के कई भागों में बृहत् स्तर पर **राहत तथा पुनर्वास के कार्य** किये, जिससे १७२९ गाँवों के ६८ हजार परिवारों के १ लाख ६८ हजार लोग लाभान्वित हुए।

कल्याण-कार्यों पर ११ करोड़ ६५ लाख रुपये व्यय हुए, जिसके तहत निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार एवं असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि की गयी।

१५ अस्पतालों, १२९ चिकित्सालयों तथा ६१ मोबाइल चिकित्सा-इकाइयों के माध्यम से ४५ लाख ४४ हजार से अधिक रोगियों को **चिकित्सा-सेवा** प्रदान की गयी। इस मद में १०२ करोड़ ९१ लाख रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों द्वारा – बाल-विहार से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक ३ लाख २२ हजार विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान किया गया। शिक्षा-कार्य के लिये १९७ करोड़ ५० लाख रुपये खर्च किये गये।

३३ करोड़ ३७ लाख रुपयों की लागत से ग्रामीण तथा आदिवासी विकास योजनाओं को कार्यान्वित किया गया।

इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक तथा निरन्तर सहयोग के लिये आन्तरिक धन्यवाद और कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

११ दिसम्बर २०११

स्वामी प्रभानन्द
(महासचिव)

स्वामी विवेकानन्द के सार्ध शताब्दी (१५०वें जन्मवर्ष) महोत्सव के कार्यक्रम

नई दिल्ली में भारत के माननीय प्रधानमंत्री ने स्वामी विवेकानन्द के १५० वें जन्मवर्ष-स्मरणोत्सव के ४ वर्षव्यापी सेवा-प्रकल्पों का उद्घाटन किया। भारत के रेलमंत्री ने हावड़ा स्टेशन से 'विवेक-एक्सप्रेस' नामक स्वामी विवेकानन्द पर सचित्र आलेख युक्त एक विशेष प्रदर्शनी-रेलगाड़ी को हरी झंडी दिखाई। यह रेलगाड़ी जनवरी २०१४ तक देश के लगभग सभी मुख्य स्टेशनों पर पड़ाव डालते हुए लगभग एक लाख किलोमीटर की यात्रा करेगी। ८ अक्तूबर २०१० से १० जून २०११ के दौरान केन्द्रिय सरकारी अनुदान-प्राप्त सेवा-परियोजनाओं पर ८ करोड़ २० लाख रुपये खर्च किये गये, जिसका संक्षिप्त प्रगति विवरण इस प्रकार है –

(१) प्रकाशन – १० भाषाओं में स्वामीजी के जीवन और वाणी पर ६ लाख ८५ हजार पुस्तकों; और ६ भाषाओं में १२ अन्य पुस्तकों की ६ लाख २८ हजार प्रतियों का प्रकाशन किया गया, जिसके तहत रु. ७२ लाख ७६ हजार खर्च हुए।

(२) सांस्कृतिक कार्यक्रम परियोजना – आसनसोल, पुणे, अगरतला और बड़ोदरा में धार्मिक सद्भाव पर ४ राज्य-स्तरीय सेमिनार आयोजित किये गये तथा विश्व के प्रमुख धर्मों के शिक्षण पर हिन्दी और अंग्रेजी में विवरणिका का प्रकाशन हो रहा है, जिसके तहत १६ लाख ३१ हजार रुपये खर्च हुए।

(३) इलेक्ट्रानिक प्रचार माध्यम – संस्कृति मंत्रालय ने स्वामीजी के जीवन और वाणी पर सम्पूर्ण चलचित्र निर्माण के लिये संस्कृति मंत्रालय, सूचना और प्रसारण मंत्रालय तथा रामकृष्ण मिशन के प्रतिनिधियों को लेकर एक कमेटी गठित की। अब तक इस मद में ९ लाख ९० हजार रुपये खर्च हुए।

(४) गदाधर अभ्युदय प्रकल्प (गरीब और पिछड़े क्षेत्रों के बच्चों के लिए सर्वांगीण उन्नयन प्रकल्प) – २४ राज्यों में १७४ केन्द्रों के जरिए करीब १७,४०० बच्चों की सेवा हुई, जिसके तहत रु. ४ करोड़ १२ लाख ६२ हजार खर्च हुए।

(५) विवेकानन्द स्वास्थ्य सेवा प्रकल्प (कुपोषण-निवारण, शिशुओं के टीकाकरण आदि के माध्यम से गरीब बच्चों के स्वास्थ्य-सुधार हेतु प्रकल्प) – २४ राज्यों में १२६ केन्द्रों के जरिए लगभग १२,६०० बच्चों की सेवा हुई, जिसके तहत २ करोड़ ५३ लाख ७० हजार रुपये खर्च हुए।

(६) सारदा पल्लीविकास प्रकल्प (१० गाँवों की महिलाओं के शैक्षणिक विकास और स्व-सशक्तिकरण हेतु प्रकल्प) – ८ राज्यों में १० केन्द्रों के जरिए लगभग १६९६ महिलाओं की सेवा हुई, जिसके तहत १५ लाख ८७ हजार रुपये खर्च किये गये।

(७) स्वामी अखण्डानन्द सेवा प्रकल्प (१० चुने हुए

अति गरीब शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों से गरीबी उन्मूलन हेतु प्रकल्प) – ६ राज्यों में ९ केन्द्रों के जरिए लगभग १०४० व्यक्तियों की सेवा हुई, जिसके तहत १७ लाख ८८ हजार रुपये खर्च किये गये।

(८) युवाओं के लिये विशेष कार्यक्रम – व्याख्यान, निबन्ध-लेखन, वाद-विवाद और प्रश्नोत्तरी पर कई क्षेत्रीय प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं, जिसके तहत २१ लाख १७ हजार रुपये खर्च किये गये।

इसके अतिरिक्त – कई केन्द्रों ने **विविध कार्यक्रमों का आयोजन** किया – चेन्नै मठ ने ४० इलेक्ट्रॉनिक-पुस्तकों (e-books) तथा 'वेदान्त-केसरी' पत्रिका के मोबाइल संस्करण प्रस्तुत किये, दिल्ली केन्द्र द्वारा स्वामीजी पर एनिमेटेड फिल्म, कड़प्पा केन्द्र द्वारा ७५९ शिक्षा संस्थाओं के ७९,९०२ छात्रों को लेकर अखिल आन्ध्र-प्रदेश लिखित प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता का आयोजन किया गया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर की रजत जयंती मनायी गयी

आश्रम के २५ वर्ष पूरे होने पर 'रजत जयंती' २५, २६, और २७ नवम्बर, २०११ को बड़े धूमधाम से मनायी गयी। इस कार्यक्रम में रामकृष्ण मिशन के देश के विभिन्न केन्द्रों के लगभग १२० संन्यासी-ब्रह्मचारियों, ३५० भक्तों और काफी संख्या में स्थानीय लोगों ने भाग लिया। कार्यक्रम का श्रीगणेश २५ नवम्बर को छत्तीसगढ़ राज्य के महामहिम राज्यपाल श्री शेखर दत्त जी ने किया। आश्रम के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने अतिथियों का स्वागत किया। बेलूड़ मठ के ट्रस्टी और सह-सचिव स्वामी श्रीकरानन्द जी महाराज ने सभा को सम्बोधित किया। मुख्य अतिथि महामहिम राज्यपाल के व्याख्यान के बाद रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। २६ नवम्बर को विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं व्याख्यान हुये। २७ नवम्बर को छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह जी ने कार्यक्रम का समापन किया। खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। इस अवसर पर एक बड़ी अच्छी रंगीन स्मारिका का प्रकाशन भी किया गया।

स्वामीजी की स्मृति में डाक-टिकट

स्वामी विवेकानन्द जी की सार्ध-शताब्दी की स्मृति में मलेशिया सरकार द्वारा एक डाक-टिकट जारी किया गया। इसका विमोचन २ अगस्त, २०११ को रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी के कर-कमलों द्वारा हुआ।

❑❑❑

पृष्ठ १३५ का शेषांश

अर्जुन कहते हैं – हे प्रभो ! आप मिली-जुली सी बातें कह रहे हैं, इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। अत: आप मुझे निश्चित करके बताइये जिससे मैं श्रेय को प्राप्त कर सकूँ। अब यहाँ हम अर्जुन के साधक-व्यक्तित्व का लक्षण पाते हैं, जो हममें नहीं है। इसलिये निवेदन किया है कि हमें अर्जुन की मानसिकता अर्जित करनी पड़ेगी। इतने मोहग्रस्त होने के पश्चात् भी संबंधियों को मारने के भय के पश्चात भी, जितेंगे या हारेंगे इसका अनिश्चय होने के पश्चात भी, अर्जुन के भीतर अर्जुन का साधक-भाव मरा नहीं, सोया हुआ है। हम-सब के भीतर हमारा साधक-भाव मरता नहीं, सुप्त रहता है। यह हो सकता है कि हजारों जन्मों से वह सोया रहे, किन्तु इस साधक-भाव को एक-न-एक दिन अवश्य जागना पड़ेगा। मनुष्य कभी-भी पशु के समान जीवन व्यतीत करके सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य को मनुष्य की तरह ही जीवन जीना पड़ेगा, यह उसकी विवशता है। आप देखें कि दूसरे श्लोक के दूसरे अर्धांश में अर्जुन का साधक-भाव जाग उठता है। वे कहते हैं – **तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्** – आप मुझे एक निश्चित् बात बताइये कि मैं कर्म करके कर्मयोग से मुक्ति प्राप्त करूँगा या कर्म त्यागकर ज्ञानयोग से मुक्ति प्राप्त करूँगा। जिसके द्वारा मुझे श्रेय की प्राप्ति हो, वह मुझे आप बताइये। इतनी कठिनाई के होते हुये भी, इतने द्वन्द्व में रहते हुये भी अर्जुन होश में हैं तथा वे भगवान से सही मार्ग पूछ रहे हैं।

हमारे जीवन में भी ऐसी समस्या आती है। इसे शास्त्र की भाषा में द्वंद्व कहते हैं। कहते हैं दुविधा में पड़े हैं। जैसे कहीं शिवजी का एक मंदिर है मुझे रास्ते का सही ज्ञान नहीं है मंदिर से लौटते समय थोड़ी देर बाद मुझे दो रास्ते दिखाई पड़े, तो रुककर मैं किसी से पूछूँगा कि मंदिर का रास्ता कौन-सा है? जो अच्छी तरह से जानता है उसको पूछकर मैं चलना शुरू करूँगा। अर्जुन निश्चित रूप से जानते थे कि भगवान मुझे जो रास्ता बतायेंगे, वह ऐसा रास्ता होगा, जिस पर चलकर यथासमय मैं अपनी जगह पर पहुँच जाऊँगा।

ये सारी भूमिका आपके सामने रखने का उद्देश्य क्या है? हम सब विचार करें कि जीवन में हम चाहते क्या हैं। श्रेय और प्रेय इनमें से हम क्या चाहते हैं। जीवन में यदि हम संसार और संसार से मिलनेवाला सुख चाहते हैं, तो गीता हमारी अधिक सहायता नहीं कर सकेगी। क्योंकि यह अनित्य और असुख है – **अनित्यम् असुखम लोकम्** – ये गीता की दृढ़ मान्यता है। किन्तु यहीं रहकर, इसी जीवन में, जैसा संसार है उसको स्वीकार करके हम उसका सदुपयोग कर श्रेय के पथ पर चलना चाहेंगे, तो गीता हमें प्रत्येक पद पर सहायता करेगी।

❖ (क्रमश:) ❖